RAMAKRISHNA MISSION LIBRARY
MUTHIGANJ ALLAHABAD

भारतीय साहित्य में भक्तिधारा

भारत की प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य पर भक्ति परंपरा की प्रवृत्ति का प्रभाव बहुत स्पष्ट और महत्वपूर्ण भी रहा है। विक्रम की संभवतः छठीं से लेकर उसकी पंद्रहवीं शताब्दी तक इस प्रवृत्ति का प्रवेश किसी न किसी रूप में यहाँ की प्रायः प्रत्येक ऐसी भाषा के साहित्य में हो चुका था। इसके द्वारा अनुप्राणित कवियों ने समय-समय पर उसे अपनी कई बहुमूल्य रचनाएँ भी भेंट कर दी थीं। इसी काल के अंतर्गत बहुत सी ऐसी भाषाओं में 'रामायण', 'महाभारत' एवं 'भागवत' जैसे धार्मिक ग्रंथों के रूपांतर प्रस्तुत किये गये थे तथा उनके विविध आख्यानों को विषय बना कर स्वतंत्र ग्रंथों की भी रचना की गई थी। इसके सिवाय यही समय उन भक्ति आंदोलनों का भी रहा जिनके प्रवर्त्तकों अथवा अनुयायियों के प्रचार-कार्य ने इस प्रवृत्ति को विशेष प्रभावशाली रूप दिया। इसके पीछे फिर लगभग दो-तीन सौ वर्षों तक इसका प्रचार क्रमशः और भी अधिक होता गया जिस कारण हमारी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में निरंतर श्रीवृद्धि होती चली गई और वे समृद्धिशाली बन गये। यह एक मनोरंजक तथ्य है कि अधिकांश प्रादेशिक भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ कवियों में अनेक भक्तों की ही गणना विशेष रूप से की जाती है और उन्हीं की प्रतिभा एवं काव्य कौशल के फलस्वरूप इनके इतिहास का कोई न कोई काल स्वर्णयुग कहलाकर भी प्रसिद्ध हुआ है। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी से फिर इस प्रवृत्ति में क्रमशः निर्बलता दीख पड़ने लगी जिसका परिणाम स्वभावतः उनके साहित्यों में भी लक्षित हुआ। इस प्रकार प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में पायी जाने वाली भक्ति परंपरा की प्रवृत्ति का इतिहास वस्तुतः स्वय उनके गौरव के भी विकास एवं ह्रास का इतिहास है और यह बात उनमें से लगभग सभी के संबंध में एक समान में लागू कही जा सकती है।

यों तो भक्ति परंपरा के मूल स्त्रोत का अस्तित्व वैदिक साहित्य तक में ढूँढ़ा जाता है और किसी प्रारंभिक रूप का पता मोहनजोदड़ो आदि के भग्नावशेषों के भी आधार पर बतलाया जाता है किंतु इसमें संदेह नहीं कि इसका पहला स्पष्ट रूप हमें 'श्रीमद्भागवत' की ही पंक्तियों में दीख पड़ता है। यहाँ पर उपनिषत्-कालीन चिंतन-प्रधान उपासना सर्व प्रथम भक्ति के शुद्ध भाव-प्रधान रूप में परिणत होती जान पड़ती है और यहीं से इसका मस्तिष्क के साथ बना हुआ प्रारंभिक संबंध क्रमशः क्षीण होता हुआ अधिकाधिक हृदय के साथ जुड़ता चला जाता है। भक्ति के इस प्रकार विकसित हुए रूप के दर्शन हमें पहले पहल उन तमिळ रचनाओं में होते हैं जो पीछे अळियारों तथा आळवारों द्वारा निर्मित हुई और जो इस समय तक भी तमिळ साहित्य का एक प्रमुख अंग बन कर प्रसिद्ध है। ये भक्ति कवि अधिकतर निम्नश्रेणी के व्यक्ति थे और इनमें से अधिकांश अशिक्षित भी थे, किंतु इन्होंने ही भक्ति को सर्वप्रथम साधारण जनजीवन के भी स्तर तक ला दिया। भक्ति के द्वारा अनुप्राणित हो इन्होंने अपने हृदय के सच्चे एवं भावपूर्ण उद्गार प्रकट किये और उनके कारण ये अपने परवर्ती कवियों के लिए प्रथप्रदर्शक भी बन गये। अळियारों के इष्टदेव शिव थे और आळवारों के विष्णु अथवा राम एवं कृष्ण थे। किंतु इस प्रकार की विभिन्नताओं के होते हुए भी उनकी भक्ति साधना में विशेष अंतर नहीं था। उनका लक्ष्य एक समान था, उनके भावों में अपूर्व सादृश्य था और उनकी भाषा एवं रचनाशैली भी प्रायः एक ही प्रकार की थी। उनकी इस लोक भाषा की रचनाओं ने सर्वसाधरण को प्रभावित किया और ये ही पीछे अन्य प्रादेशिक भाषाओं के लिये आदर्श बानियां सिद्ध हुई।

तमिळ प्रांत के इन भक्त कवियों में कालक्रमानुसार, सर्वप्रथम स्थान कारैक्काल अम्मैयार को दिया जाता है। ये नारी भक्त थीं और शैव संप्रदाय की अनुगामिनी थीं तथा इन्होंने कैलाश पर अधिष्ठित अपने इष्टदेव भगवान् शिव का वर्णन बड़े भक्ति भाव के साथ किया है। किंतु उस प्रांत के सर्वश्रेष्ठ शैव भक्ति केवल चार माने जाते हैं जिनके नाम माणिक्क-

वाचकर, अप्पर, संबंदर और सुंदर हैं। इनमें से प्रथम की स्फुट कविताएँ 'तिरुवाचकम्' के नाम से संगृहीत हैं और शेष तीन की ऐसी रचनाओं का संग्रह 'तेवारम्' कहा जाता है। 'तिरुवाचकम्' भक्त माणिक्कवाचकर के गूढ़-तम हृदयोद्गारों का सुंदर संकलन है और उसकी रचना उस समय के प्रचलित लोकगीतों की सुबोध शैली में की गई है। इनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों का एक विशद् परिचय हमें इनके 'तिरुक्को वैयार' नामक उस प्रबंध-काव्य में भी मिलता है जहाँ इन्होंने शिव तत्व को प्रेमपात्री अथवा प्रेमिका तक का रूप दे डाला है, जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस पांचवीं-छठीं शताब्दी की एक प्राचीन तमिळ रचना के अंतर्गत इस प्रकार जीवात्मा का प्रेमी रूप में तथा परमात्मा का प्रेमपात्रीवत् प्रदर्शित किया जाना, निश्चय ही सूफ़ी मत के प्रभाव का फल नहीं हो सकता। 'तेवारम्' के तीन कवियों में से अप्पर अपनी दास्यभाव की कविताओं के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं और ये 'मुद्राशैली' की रचनाओं के प्रवर्त्तक भी कहे जाते हैं जिसके अनुसार वर्ण्य विषय की चर्चा 'दशकों' में पूरी की जाती है और ग्यारहवीं कविताओं में रचयिताओं की 'मुद्रा' पायी जाती है। संबंदर कवि एक स्वाभिमानी शिवभक्त हैं और ये अपने इष्टदेव को प्रकृति वर्णन के साथ स्मरण करने की विशेषता रखते हैं। सुंदर की उपलब्ध रचनाओं में उनके अपने भगवान् शिव के प्रति प्रकट किये गए सखाभाव का चित्रण अपूर्व काव्य कौशल के साथ किया गया मिलता है।

इसी प्रकार तमिळ प्रांत के बारह आळवार कवियों की रचनाओं का बृहत् संग्रह 'नाळियार प्रबंधम्' के नाम से प्रसिद्ध है। इन बारहों में से प्रथम तीन के तीन 'शतक' मिलते हैं जिनमें इनके इष्टदेव विष्णु अथवा नारायण के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया गया है। किंतु चौथे आळवार पेरियाळ्वार ने श्रीकृष्ण विषयक रचनाएँ भी की हैं जिनमें यशोदा के वात्सल्य भाव का चित्रण अत्यंत स्वाभाविक ढंग से किया गया है। पेरियाळ्वार की कविताओं में एक माता के प्रायः उन सभी हार्दिक उद्गारों का अंकन मिलता है जो दैनिक जीवन में उपलभ्य हैं।

इन पेरियाळ्वार की ही पोष्य पुत्री आंडाल थी जिन्होंने अपने इष्टदेव के प्रति दांपत्यभाव से भरे पदों की रचना की है। इनकी भी गणना आळवारों में की जाती है और ये उनमें उसी प्रकार प्रसिद्ध हैं जिस प्रकार पीछे मीरांबाई राजस्थान अथवा उत्तरी भारत के कवियों में विख्यात हैं। आंडाल मीरांबाई अथवा शैव भक्तिन कारैक्काल अम्मैयार की भाँति, विवाहिता नहीं थी। वे क्वारी ही रह गईं और अपने को इष्टदेव की पत्नी मानकर उसके संबंध में शृंगाररस द्वारा ओतप्रोत पदों की रचना करती रहीं। इनकी रचनाओं के प्रत्येक वाक्य में माधुर्य पाया जाता है। इन वैष्णव भक्तों में सबसे अधिक प्रसिद्ध नम्माळ्वार हैं जिनकी कविता में भावों के सौंदर्य एवं गांभीर्य दोनों एक समान मिलते हैं। इनकी भक्ति में हृदय एवं मस्तिष्क दोनों एक साथ काम करते जान पड़ते हैं जिस कारण उसमें भावुकता एवं दार्शनिकता दोनों का ही समावेश है। भावुक बन कर ये अपने इष्टदेव की प्रेमिका अथवा कभी-कभी उसकी माता तक बन जाते हैं तो अन्यत्र ये किसी चिंतनशील व्यक्ति के रूप में अपनी गाढ़ी स्वानुभूति व्यक्त करने लगते हैं और अखिल विश्व में सर्वत्र आत्म तत्व का ही दर्शन करने में लीन हो जाते हैं। नम्माळ्वार के अतिरिक्त अन्य आळ्वारों में से कम से कम दो अर्थात् तिरुमंगै तथा कुलशेखर के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय है। तिरुमंगै भी एक प्रतिभाशाली कवि थे जिन्होंने माधुर्य एवं दास्य भाव को समान रूप में अपनाया और कुलशेखर केरल प्रांत के संत नरेश थे। ये दोनों ही आळवार विष्णु के रामावतार के प्रति अधिक आकृष्ट थे और उसकी भक्ति को विशेष महत्व देते थे।

केरल प्रांत की भाषा पहले वस्तुतः तमिळ का ही एक विशिष्ट रूप थी जिस कारण कुलशेखर की गणना तमिळ कवियों में की जाती है। वहाँ की वर्तमान भाषा मलयालम का स्वरूप पीछे अधिक निखर जाने पर भी भक्ति रसपूर्ण रचनाओं का वहाँ अभाव नहीं रहा। इसमें अधिकतर कृष्णभक्त कवियों ने ही रचना की जिनमें चेरुस्सेरी नंबूद्री, तुंजन, आदि

BAD

विशेष प्रसिद्ध हैं। त्रावंकुर राज्य के नरेशों का परिवार कला एवं भक्ति-भावपूर्ण साहित्य के निर्माण में विशेष रुचि लेता आया। राज्य की ओर से भी पद्मनाभ जी का एक सुप्रसिद्ध वैष्णव मंदिर भी वहाँ बहुत पुराने समय का स्थापित किया हुआ वर्तमान है तथा राजा लोग अपने को 'श्री पद्मनाभ का दास' और उन्हें अपना कुलदेव मानते, अभी आधुनिक समय तक चले आये हैं। ऐसे नरेशों में ही गर्भ श्रीमान् (सन् १८१३-१८४६ ई०) भी थे जिन्होंने, मलयालम, संस्कृत, कन्नड़ी एवं तेलुगु के अतिरिक्त हिंदी भाषा में भी पदों और गीतों की रचना की थी। इनकी श्रीकृष्ण परक हिंदी रचनाओं में सूरदास एवं मीरांबाई जैसे हिंदी के भक्त कवियों के भक्तिभाव तथा लीला गान के उदाहरण मिलते हैं।[1] तमिळ प्रांत की भक्ति परंपरा का प्रभाव जिस प्रकार केरल प्रांत के साहित्य पर पड़ा उसी प्रकार उसने कर्णाटक प्रांत के कन्नड़ी साहित्य को भी प्रभावित किया।

कर्णाटक में भक्ति परंपरा द्वारा प्रभावित रचनाशैली का आरंभ वीरशैव संप्रदाय के प्रचारक बसव आदि के कारण हुआ। इन्होंने अपने प्रांत की कन्नड़ी भाषा में 'वचन साहित्य' का निर्माण एवं प्रचार किया जो गद्य काव्य के रूप में स्वीकृत किया गया। इन वचनों में प्रमुखतः आचरण प्रधान भक्ति का भांडार भरा था और आळवारों के पदों की भाँति ये भी धार्मिक साहित्य बन गये। शैवों के इस 'वचन साहित्य' से फिर इस प्रांत के वैष्णव हरिदासों को प्रेरणा मिली जो विष्णु के 'विट्ठल' रूप के उपासक थे। इनका संप्रदाय 'दासकूट' के नाम से प्रसिद्ध हुआ उसमें एक से एक बढ़कर प्रतिभाशाली कवि हुए जिन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन की अनुभूतियों का सारतत्व निकाल कर अपनी मधुर बानियों में संचित कर दिया। इनके विट्ठल वास्तव में पांडुरंग थे जिनका नाम पांडवों के कृष्ण का अभिप्राय प्रकट करता है और इनकी भक्ति

---

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० १६, पृ० ३१६-२४

साधना मध्वाचार्य के द्वैतवाद पर आश्रित थी। इनकी एक अन्य विशेषता यह भी थी कि इन्होंने शैवधर्म के प्रति कभी विरोधी भाव प्रकट नहीं किया, प्रत्युत उसके साथ समन्वय दर्शाने का ही प्रयत्न किया। इनकी बानियों में अपने इष्टदेव के प्रति जो भक्ति भाव प्रकट किया गया है वह अतीव सुंदर और हृदयग्राही है। वीरशैवों के 'वचन साहित्य' और हरिदासों के पदों ने न केवल कन्नड़ी साहित्य का भांडार भर दिया अपितु उनमें उस भाषा का प्रौढ़ रूप भी पूर्णतः निखर आया।

वीर शैवों के 'वचन साहित्य' की यह विशेषता थी कि उसका विषय कोरा भक्तिभाव का ही नहीं था उसमें सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं, कुरीतियों तथा बाह्याडंबरों पर उनके रचयिताओं द्वारा किया गया निर्मम प्रहार भी संमिलित था। ये लेखक प्रत्येक व्यक्ति की आभ्यंतरिक शुद्धि एवं सच्चे नैतिक व्यवहारों के समर्थक थे और ये तदनुसार साधना एवं आचरण के उपदेश भी देते थे। इनमें बसव के अतिरिक्त चेन्न बसव तथा अल्लामा प्रभु विशेष रूप में प्रसिद्ध हैं। बसव अपने इष्टदेव शिव को 'कूडळ संगम देव' के नाम से अभिहित करते थे और शिवैक्य अथवा जीवन्मुक्ति की दशा उपलब्ध करने के लिए भक्ति को ही सर्वोत्तम मार्ग समझते थे। उस स्थिति का एक पारिभाषिक नाम 'शरण' भी था जिस तक पहुँच जाने पर उपास्य एवं उपासक में कोई भेद नहीं रह जाता। वे कहते हैं—

क्या देव लोक मर्त्यलोक अलग-अलग है ?
इसी लोक में है अनंतलोक !
शिवलोक शिवाचार है, भक्त का स्थान ही देवलोक है
भक्त का आंगन ही वाराणसी है, काम ही कैलास है,
कूडळ संगम देव, यही सत्य है।[1]

और फिर, प्रभो, उत्तम कुल में जन्म लेने का बोझ सिर पर मत लादो।

---

[1] 'बसवण्ण का षट स्थल वचन', पृ० २७

प्रभो, मुझे ऐसा बनाओ कि मैं कक्कय्या का जूठन खा सकूँ।[1] कक्कय्या चाण्डाल जाति का व्यक्ति था जो शिवानुभव मंडल में आ गया था।

हरिदासों की भक्ति भाव भरी रचनाओं का आरंभ वीर शैवों के कुछ पीछे हुआ। इसलिए वे भी 'वचन साहित्य' से न्यूनाधिक प्रभावित थीं। हरिदासों को कभी-कभी तीन पृथक्-पृथक् वर्गों में विभाजित किया जाता है जिनमें से प्रथम के अंतर्गत वे आते हैं जिनकी रचनाओं के प्रमुख लक्ष्य मध्वसंप्रदाय के अनुयायी है और दूसरे वर्ग में उन लोगों की गणना की जाती है जिनका क्षेत्र उनसे कुछ अधिक व्यापक है तथा जो साधारणतः भक्ति के साथ ज्ञान एवं कर्म का भी सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। किंतु इन दोनों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण वह वर्ग माना जा सकता है जिनके कवियों की रचनाएँ प्रत्येक मानव को लक्ष्य करके निर्मित की गई प्रतीत होती है।[2] इन सभी को उस 'दासकूट' संप्रदाय के अंतर्गत संमिलित करने की परंपरा है जिसकी स्थापना वस्तुतः व्यासराय (सन् १४४७-१५३६ ई०) ने की। श्रीपाद राय इनसे भी कुछ पहले के थे और उन्होंने 'भ्रमर गीता', 'वेणुगीता' एवं 'गोपीगीता' की रचनाओं द्वारा श्रीकृष्ण लीला का वर्णन किया था। व्यासराय के लिए प्रसिद्ध है कि बंगाल के श्रीकृष्ण चैतन्य अथवा गौरागंदेव भी उनके शिष्यों में थे। व्यासराय ने दार्शनिक दृष्टि से द्वैतवादी होते हुए भी, अपने अंतःस्थित इष्टदेव की उपासना का रूप संतों की सहज समाधि सा बना दिया है। वे कहते हैं—"मैं अपने हृदय-स्थित भगवान् की मूर्ति की पूजा प्रतिदिन किया करता हूँ। मेरा शरीर मंदिर है मेरा हृदय मंडप है, मेरी आँखें आरती का काम करती है और मेरे हाथ चंवर बने हुए हैं। मेरी तीर्थयात्रा ही मेरी परिक्रमा है और मेरा सोना उसके समक्ष दंडवत् करना

---

[1] बसवण्ण का षटस्थल वचन, पृ० २६ २. करमरकर : मिस्टिक टिचिंग्स ऑव् दी हरिदासज़ ऑव् करनाटक, पृ० १४-१५

है। उसकी स्तुतियाँ मंत्र रूप हैं, और जो कुछ कथन करता हूँ वे पुष्प रूप है। मेरा चलना उसके सामने मेरा नृत्य करना है और मेरे वस्त्र उसी के परिधान है—जो कुछ भोजन करता हूँ वह नैवेद्य है—फिर मुझे और क्या करना है? जब सभी कुछ मेरे भीतर ही है तो मैं सदैव श्री कृष्णोपासना में निरत रहा करता हूँ।"[1]

पुरंदरदास (सन् १४८४-१५६४ ई०) इन हरिदास वा दासकूट भक्तों में सबसे प्रसिद्ध हैं और उनकी रचनाएँ भी बहुत उच्चकोटि की हैं। इनके लिए कहा जाता है कि ये अपनी पत्नी के कारण इतने बड़े भक्त हुए थे और इनका नाम कृष्णप्पा से पुरंदरदास हो गया था। कृष्णप्पा महान कंजूस थे किंतु इनकी पत्नी उसी प्रकार दानशीला भी थी और कोई याचक उसके यहाँ से लौट नहीं सकता था। एक बार स्वयं पांडुरंग कृष्ण इनके यहाँ भिक्षुक ब्राह्मण बनकर गये और इनसे कुछ न पाकर इनकी पत्नी से उसका नथ माँग लिया। भिक्षुक ने फिर उस नथ को कृष्णप्पा के यहाँ गिरवी के रूप में रख कर कुछ द्रव्य लिया और इन्होंने उसे अपने घर का ही गहना जानकर अपनी पत्नी पर क्रोध किया। बेचारी अत्यंत भयभीत होकर भगवान् से प्रार्थना करने लगी जिसके फलस्वरूप उसे वह नथ फिर मिल गया और इस घटना के रहस्य द्वारा पूर्ण प्रभावित होकर कृष्णप्पा पुरंदरदास नामक प्रसिद्ध भक्त बन गए। पुरंदरदास की भक्ति अपने इष्टदेव के प्रति दृढ़ आस्था एवं गहरी श्रद्धा से पूर्ण है और ये अपने को किसी बड़े के समक्ष छोटे के रूप में प्रदर्शित करने का प्रयत्न अधिक करते हैं। ये कहते हैं—"हे श्रीरंग, मुझे अपने में पूर्ण विश्वास करने की शक्ति दो, यदि मैं अशक्त बनने लगूँ तो मुझे भिक्षुक बना दो और यदि मैं किसी से कुछ माँगू तो उसे देने तक मत दो। यदि कोई मुझे भोजन दे तो भी मुझे अर्द्ध भुक्त ही बने रहने दो और यदि पेट भर भी जाय तो मुझे वस्त्र न देने दो। इसी प्रकार यदि

[1] करमकर : मिस्टिक टिचिंग्स ऑव् दी हरिदासाज़ ऑव् करनाटक, पृ० ४६-७

कपड़े मिल भी जाँय तो मुझे कहीं रहने की जगह न मिल पाये जिससे मैं तुम्हारे ही श्रीचरणों में शरण पा सकूँ।[१]

लगभग इसी समय वीर शैवों तथा हरिदासों की भाँति उधर महाराष्ट्र के महानुभावों तथा वारकरियों ने भी अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। महानुभाव पंथ के प्रचारक चक्रधर का आविर्भाव उपर्युक्त बसव के कुछ ही दिनों पीछे हुआ था और वे कृष्ण के उपासक समझे जाते हैं। किंतु महानुभावों की उपासना में वीरशैवों अथवा हरिदासों जैसा भक्ति का गहरा रंग नहीं दीख पडा। इसके उत्कृष्ट उदाहरण हमें उन रचनाओं में मिलते हैं जो ज्ञानेश्वर, एकनाथ एवं तुकाराम जैसे वारकरियों द्वारा निर्मित हुई हैं। इन संतों ने अपनी मराठी रचनाओं में हरिदासों की भाँति ही कीर्तनशैली को पूर्णतः अपनाया है और उन्हीं के इष्टदेव बिट्ठल वा विठोबा को अपना इष्टदेव भी स्वीकार किया है। इनमें वीरशैवों तथा हरिदासों जैसी सुधार-प्रियता भी लक्षित होती है जो महानुभावों में क्रांति की सीमा तक स्पर्श करती जान पड़ती है। इन वारकरियों की मराठी 'ओवियों' तथा 'अभंगों' में हमें प्रधानतः उस भक्ति का परिचय मिलता है जिसका उपदेश गीता में किया गया है। ये वीरशैवों तथा हरिदासों की भी अपेक्षा वैदिक परंपरा के अधिक निकट हैं जिस बात में ये महानुभावों से नितांत भिन्न कहे जा सकते हैं। इसके सिवाय हरिदास एवं महानुभाव जहाँ द्वैतवाद को प्रश्रय देते हैं वहाँ ये बिठल के उपासक होते हुए भी प्रधानतः अद्वैतवादी ही हैं। वास्तव में ये निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं और इस बात में ये उत्तर प्रदेश के कबीर जैसे संतों के भी पथ प्रदर्शक जान पड़ते हैं। तमिळ प्रांत के अळ्वियारों तथा आळ्वारों और कर्णाटक तथा महाराष्ट्र के क्रमशः वीरशैवों अथवा हरिदासों तथा महाराष्ट्र के महानुभावों और वारकरियों की भक्तिसाधना में एक बहुत

---

[१] करमरकर : मिस्टिक टिचिंग्स ऑव् दी हरिदासाज़ ऑव् करनाटक, पृ० ४५

बड़ा अंतर इस बात के कारण आ जाता है कि तमिळ प्रांत वाले जहाँ इसे केवल व्यक्तिगत रूप तक ही सीमित रखते थे और इसके द्वारा अकेले आत्मविभोर बना रहना चाहते थे वहाँ इन लोगों ने इसका सांप्रदायिक रूप में भी प्रचार करना आरंभ किया।

कर्णाटक के हरिदासों की भक्तिसाधना का एक रूप सुदूर बंगाल प्रांत में भी दीख पड़ा। मध्वाचार्य के ही द्वैतवाद से प्रभावित होकर वहाँ चैतन्यदेव ने भक्ति के एक नवीन 'गौड़ीय संप्रदाय' को जन्म दिया जिसमें स्वभावतः स्थानीय सहजिया वैष्णवों के प्रेम भाव का भी पुट आ गया। उनके अनुयायी कवियों की बंगला पदावली में मधुर रस का एक समुद्र सा उमड़ पड़ा जिसने प्रायः सारे प्रांत को ही आप्लावित कर दिया। चैतन्यदेव के पूर्ववर्ती चंडीदास की सहजिया रचनाओं में जिस प्रेमपात्री की ओर केवल अस्पष्ट सा ही संकेत रहा वह गौड़ीय वैष्णव कवियों के इष्टदेव कृष्ण की प्रेयसी राधा का प्रत्यक्ष रूप धारण कर सर्वसाधारण के सामने उपस्थित हो गई। फिर तो उनके साथ किये गये प्रेमी कृष्ण के विविध विहारों का ऐसा सजीव चित्रण हुआ कि ऐसे पदों को गाकर कीर्तन करनेवाले आनंद विभोर होकर नृत्य तक करने लग गये और उनकी मडलियों का प्रचार अन्य प्रांतों तक भी हो गया। तमिळ प्रांत के भक्तों ने अपनी पदरचना में संगीत के लय अवश्य भरे थे और कर्णाटक एवं महाराष्ट्र के क्रमशः हरिदासों एवं वारकरियों ने झाझों और कठतालों के सहारे कीर्तन भी किया था, किंतु गौड़ीय संप्रदाय की भक्ति-साधना के लिये यह पद्धति अनिवार्य सी हो गई। बंगाल प्रांत को इस भक्ति परंपरा की एक विशेषता इस बात में भी लक्षित हुई कि यहाँ की विरहिणी प्रेमिका को हिंदी के सूरदासादि की गोपियों की भाँति उद्धव जैसे किसी माध्यम द्वारा कभी निर्गुण ब्रह्म वाले उपदेश नहीं सुनने पड़े और वह विरह की प्रबल धारा में एक समान प्रवाहित होती रह गई। इसके सिवाय तमिळ अथवा कर्णाटक प्रांतों के विपरीत यहाँ उस समय शैवभक्तों का प्रायः अभाव सा था तथा हरिदासों एवं वार-

करियों की रचनाओं में जहाँ योगमार्गी नाथपंथ का भी प्रभाव दीख पड़ा वहाँ गौड़ीय रचनाएँ इससे अछूती रह गईं। बंगला साहित्य में पीछे रामप्रसाद जैसे शाक्त कवियों की भी भक्तिपूर्ण रचनाएँ संमिलित हुई जिनमें मधुर रस की जगह वात्सल्य ही अधिक था।

चैतन्य देव ने अपने अंतिम दिन उड़ीसा प्रांत की पुरी में व्यतीत किये थे और वहीं उनका देहांत भी हुआ था जिस कारण वहाँ के उड़िया भाषा भाषियों पर भी बंगाल के गौड़ीय संप्रदाय का प्रभाव बिना पड़े नहीं रह सका। उनके वहाँ आने के समय तक जिस वैष्णव भक्ति का प्रचार था और जिसके द्वारा अनुप्राणित होकर उड़िया कवि अपने पदों की रचना कर रहे थे वह अधिकतर बौद्धधर्म से प्रभावित थी। इन वैष्णव कवियों के इष्टदेव कृष्ण 'अलेख' एवं 'शून्य पुरुष' थे और इनकी राधा भी जीवात्मा से अभिन्न थी जिस कारण इनकी भक्ति साधना बहुत कुछ योगपरक रूप धारण कर लेती थी। इसमें उस गुण-गान एवं लीला कीर्तन का समावेश नहीं था जो गौड़ीय भक्तों की विशेषता है। उड़िया वैष्णव कवि अच्युतानंददास, जगन्नाथदास तथा बल-रामदास आदि ने अपनी रचनाओं में इसी कारण गेयत्व की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है और उनके 'शून्य संहिता' और 'विराट् गीता' जैसे ग्रंथों की पक्तियों में शुष्क वर्णनात्मक शैली के ही अधिक उदाहरण पाये जाते हैं। मराठी के वारकरी कवि अपनी रचनाओं में अधिक दार्शनिकता और पौराणिकता के आ जाने पर उन्हें सरस एवं हृदयग्राही बना लेते थे। हिंदी के संत कवियों में से भी कई एक अपने ऐसे पदों को आकर्षक बनाने में सफल कहे जा सकते हैं किंतु उड़िया के 'पंचसखा' वैसे नहीं जान पड़ते। इनकी वे ही रचनाएँ अधिक सुंदर हैं जिनमें या तो इन्होंने अपने निजी उद्गार प्रकट किये हैं अथवा जिन पर गौड़ीय वैष्णव भक्ति का भी स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

हिंदी भाषा के संत कवियों पर कुछ न कुछ महाराष्ट्र के वारकरी संतों का भी प्रभाव लक्षित होता है। इनमें से सर्वप्रथम कवि कबीर के

5536

वारकरी कवि नामदेव का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है और ये उनको तथा जयदेव को कलियुग के सर्वश्रेष्ठ भक्तों में गिनते हैं। जयदेव कवि का संबंध संभवतः उड़ीसा से ही था और वे बहुधा प्रसिद्ध गीत गोविंदकार जयदेव से भी अभिन्न कहे जाते हैं। परंतु उनकी रचनाएँ अभी तक किसी प्रादेशिक भाषा में अच्छी संख्या में उपलब्ध नहीं है जिस कारण उनके विषय में कुछ निश्चय रूप से कहना संभव नहीं है। कबीर आदि संत कवि शुद्ध निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे और स्वभावतः अद्वैतवादी भी थे। इन पर गीतादि जैसे ग्रंथों का भी प्रभाव नहीं जैसा वारकरी संतों पर दीख पड़ता है और न वे बौद्धों के शून्यवाद आदि को भी उस रूप में ग्रहण करते हैं जिसे उड़िया के 'पंचसखा' कवियों ने अपनाया था। इनमें उन प्रथम वर्ग वालों की दार्शनिकता है और दूसरे वर्ग वालों की बुद्धिवादिता भी कम नहीं है। किंतु इन्होंने इन दोनों बातों को उचित अनुपात में रखने की चेष्टा की है और इस ओर इन्हें कदाचित् उन हृदयवादी सूफ़ियों से भी सहायता मिली है जिन्होंने अपने प्रेम पंथ का प्रचार इधर बड़े पैमाने पर आरंभ कर दिया था। संत कबीर के कुछ ही पीछे फिर सगुणवादी कृष्णभक्त सूरदास आदि तथा रामभक्त तुलसीदास आदि का समय आ गया जिन्होंने न केवल क्रमशः कृष्णावतार एवं रामावतार का गुणानुवाद किया, अपितु जो किसी न किसी रूप में निर्गुण भक्ति का न्यूनाधिक विरोध करने से भी विरत न हो सके। इन दोनों प्रकार के कवियों ने अपनी रचनाओं का प्रमुख आधार 'श्रीमद्भागवत' अथवा 'वाल्मीकीय रामायण' को बनाया और तदनुसार वस्तुतः उस परंपरा का ही पालन किया जिसका अनुसरण क्रमशः कन्नड़ी के रुद्र भट्ट, तेलुगु के पोतन्ना, गुजराती के नरसी और बंगला के मालधर वसु के संबंध में अथवा तमिळ के कंबन, तेलुगु के भास्कर कवि, गुजराती के भालण तथा बंगला के कृत्तिवास, किसी न किसी रूप में, इनके पहले से ही करते जा रहे थे। इनकी विशेषता केवल इस बात में लक्षित हुई कि इन्होंने अपनी कृतियों पर अपने व्यक्तित्व की छाप

MUTHIGANJ ALLAHABAD

अत्यंत गहरे रंग में डाली तथा दास्य, माधुर्य, वात्सल्य एवं सख्य भावों में से प्रत्येक के पर्याप्त उदाहरण प्रस्तुत किये।

भक्ति परंपरा की प्रवृत्ति की दृष्टि से हम तेलुगु साहित्य को उतना महत्त्व नहीं दे सकते। न तो यहाँ के क्षेत्र में वैसा बड़ा कोई भक्ति-आंदोलन चला और न कोई ऐसा भक्त कवि ही हुआ जिसकी रचनाओं का बहुत व्यापक प्रभाव देखने में आया। प्रसिद्ध वल्लभाचार्य ने इस प्रदेश के होते हुए भी, अपने कार्य क्षेत्र को अन्यत्र बनाया और उन्होंने जो कुछ रचनाएँ की उनका माध्यम वे तेलुगु को नहीं बना सके। तेलुगु साहित्य की इस ओर सबसे बड़ी देन के रूप में हम 'श्री मद्भागवत' के व्याख्याता केवल पोतन्ना का नाम ले सकते हैं और उस राजकवि कृष्ण देवराय को भी नहीं भूल सकते जिन्होंने 'आमुक्त माल्यदा' जैसी अपूर्व रचना प्रदान की है। पोतन्ना का 'श्री मद्भागवत' केवल कहने के लिए ही अनुवाद है, उसका अधिक अंश स्वतंत्र काव्य द्वारा ओतप्रोत है और जिसके 'गजेंद्रमोक्ष' जैसे कतिपय प्रसंगों के स्थल पर भक्ति-रस का प्रवाह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्रीकृष्णदेव राय की रचना में प्रसिद्ध आळ्वार भक्तिन आंडाल की कथा का वर्णन बड़ी सरस शैली में किया गया है। किंतु ऐसे अन्य नामों का वहाँ प्रायः अभाव सा ही दीख पड़ता है। विख्यात गायक त्यागराज के गीतों में हमें उनके इष्टदेव राम के प्रति भक्ति अवश्य झलकती है, किंतु वह उनकी कला प्रियता के सामने कुछ दब सी जाती है। गुजरात के नरसी मेहता में हिंदी के अष्ट-छाप वाले कवियों जैसी ही श्रृंगारिक भक्ति का उदाहरण मिलता है। वे तुकाराम आदि मराठी कवियों की भाँति अपने पदों में तल्लीनता का भाव प्रकट करना जानते हैं और उन पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव भी बहुत स्पष्ट है। गुजराती भाषा में प्रसिद्ध कवयित्री मीरांबाई की भी रचनाएं इस संबंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, किंतु उनकी अधिक महत्ता उनके हिंदी पदों के ही कारण स्वीकार की जाती है और उनमें प्रकट किये गए सच्चे दांपत्य भाव के लिये वे तमिळ की भक्तिन आंडाल वा

गोदा की समकक्ष समझी जाती हैं। गुजराती ने भालण जैसे निपुण राम-भक्ति का कवि भी दिया है, किंतु उसकी विशेषता कृष्ण भक्ति परक रचनाओं में ही स्वीकार की जा सकती है। इस भाषा के भक्त कवियों की रचनाओं में किसी आंदोलन विशेष की प्रेरणा नहीं लक्षित होती, किंतु ये कभी-कभी शैवधर्म के प्रति विरोधभाव भी प्रदर्शित करते दीख पड़ते हैं।

भक्ति आंदोलन को लेकर चलने वाले कवियों में हम असमी भाषा के शंकरदेव एवं माधव देव आदि के भी नाम ले सकते हैं। ये कवि कृष्णोपासक थे किंतु इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि चैतन्यदेव के गौड़ीय संप्रदाय के कार्य क्षेत्र की सीमा पर बने रहते हुए भी इन्होंने उनके राधाभाव को नहीं अपनाया। ये राधा एवं कृष्ण की युगल मूर्ति के भी उपासक नहीं थे, प्रत्युत इनकी भक्ति की विशेषता भगवान के प्रति 'एक शरण' का भाव व्यक्त करने में ही दीख पड़ी। इन्होंने श्रीकृष्ण के बालरूप की ओर विशेष ध्यान दिया और उसकी विविध लीलाओं का वर्णन करने में हिंदी के सूरदास जैसे प्रयत्न किये। शंकरदेव का कहना था—

एक देउ, एक सेउ, एक बिने नाई केउ

शंकरदेव तथा उनके शिष्य माधवदेव आदि ने महापुरुषिया नामक संप्रदाय चलाया जिसने असम देश के पूर्व प्रचलित शाक्त धर्म के नाथ पंथियों की शक्ति घटाने में बहुत बड़ा काम किया। इसने वहाँ बंगाल के गौड़ीय मधुर रस का भी प्रभाव नहीं पड़ने दिया। इन असमी भक्त कवियों के 'नामघोषम्' 'वारगीतम्' एवं विविध नाटकीय रच-नाएँ असमी साहित्य की अमूल्य निधि बनी हुई हैं।

भारत के पश्चिमी एवं उत्तरी भागों वाले क्रमशः पंजाबी तथा काश्मीरी साहित्यों को देखने से पता चलता है उनके भक्तिभाव विषयक अंशों पर न्यूनाधिक सूफ़ी संप्रदाय का प्रभाव पड़ा है और वे 'रामायण' एवं 'महाभारत' जैसे ग्रंथों से प्रायः अछूतों से भी जान पड़ते हैं। पंजाबी-साहित्य का तो आरंभ ही कदाचित् बाबा फ़रीद जैसे सूफ़ियों द्वारा हुआ

था और उसके भांडार का अधिक भाग सिखों द्वारा भरा गया। फलतः इसके अंतर्गत हमें निगु`ण भक्ति के ही उदाहरण अधिक संख्या में मिलते हैं और उसमें ऐहिकता का पुट भी उल्लेखनीय है। उसमें अलौकिक धर्मों के प्रति आकर्षण की कमी है और नैतिक एवं व्यावहारिक पक्षों पर विशेष बल दिया गया मिलता है। सिख गुरुओं की रचनाओं में उपलब्ध भक्ति भाव पर नाथ-पथ जैसे योग मार्गी संप्रदायों का भी प्रभाव कम नहीं जान पड़ता। बलीराय आदि कतिपय कवियों की सगुण भक्ति परक पंक्तियों में मानवीय प्रेम की ही झलक अधिक मात्रा में दीख पड़ती है। पंजाबी साहित्य में शैवों तथा राम भक्तों की भी कृतियों का पता नहीं चलता और कृष्ण भक्तों की अधिकांश रचनाएँ भी केवल फुटकल रूपों में ही उपलब्ध हैं। शैवों की भक्ति परक रचनाएँ हमें काश्मीरी भाषा के साहित्य में मिलती है, किंतु उनमें भी दार्शनिकता का पुट अधिक मात्रा में दिखलाई देता है। काश्मीर के पुराने शैव कवियों में ललेश्वरी अथवा लालदेद का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इनका आविर्भाव हिंदी के संत कवि कबीर से कुछ पहले ही हुआ था और इनका सारा जीवन ही प्रेमोन्माद से भरी किसी योगिनी का सा रहा। कहते हैं कि इनकी सास ने इन्हें बहुत अधिक सताया था और अपने पति की ओर से भी ये सदा उपेक्षित ही बनी रहीं। किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओं से स्पष्ट है कि ये एक प्रतिभाशालिनी महिला थी और इनकी भावधारा गंभीर चिंतन एवं स्वानुभूति की सुदृढ़ पृष्ठभूमि से होकर प्रवाहित हुई थी। लालदेद की रचनाओं पर हमें उस त्रिक दर्शन का भी प्रभाव कम नहीं लक्षित होता जो काश्मीरी शैव संप्रदाय की आधार शिला है। परंतु फिर भी उनका संपर्क शाह हमदान से भी था जो काश्मीर के प्रसिद्ध सूफ़ी संतों में गिने जाते हैं और जो वहाँ सन् १३८० से १३८६ तक वर्तमान थे। लालदेद का इष्टदेव वह परात्पर शिवतत्त्व है जिसे 'शिव, केशव, जिन वा नाथ' कुछ भी कह सकते हैं और जिसकी किसी भी ऐसी भावना को लेकर उसमें हार्दिक विश्वास रखने वाला सांसारिक दुःखों से सर्वथा मुक्त हो

सकता है।"[1] इस बात में ये अपनी पूर्ववर्त्तिनी शैव भक्त कवयित्री कारैक्काल अम्मैयार से भिन्न है जो सगुण शिव की उपासिका थी और जिनकी चर्चा तमिळ साहित्य के प्रसंग में पहले की जा चुकी है।

भारत की प्रमुख प्रादेशिक भाषाओं के कवियों की रचनाओं में इस प्रकार, भक्ति परंपरा की प्रवृत्ति विभिन्न रूपों में काम करती जान पड़ती है। कहीं पर यह वात्सल्य भाव को प्रश्रय देती है तो कहीं सख्य भाव को अपनाती है और कहीं पर दास्यभाव को ही स्वीकार कर लेती है। इसे सबसे अधिक बल तब मिलता है जब यह माधुर्य भाव का सहयोग प्राप्त करती है अथवा इसे अद्वैतवाद का समर्थन मिलता है। पहले पहल यह प्रधानतः भक्त कवियों की व्यक्तिगत साधनाओं का ही आश्रय ग्रहण करती है, किंतु पीछे फिर इसे विविध भक्ति आंदोलनों का भी अवलंब मिलने लगता है और कभी-कभी उनमें से कई कवि स्वयं भी उनके प्रवर्तक होने लग जाते हैं। एक प्रादेशिक साहित्य दूसरे पर अपना प्रभाव स्वभावतः डालता रहता है और ऐसी कार्य-कारण परंपरा कभी-कभी लंबी तक भी बन जाती है। किंतु एकाध बार ऐसा भी देखने में आता है कि एक का प्रभाव दूसरे के ऊपर दूरी का विशेष व्यवधान रहते हुए भी पड़ गया है और कहीं-कहीं दो प्रांतों की सीमाओं के मिली रहने पर भी परिस्थिति वश एक का साहित्य दूसरे से भिन्न रह जाता है। इसके सिवाय यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि इन साहित्यों में प्रदर्शित भक्ति भाव अधिकतर वैष्णव संप्रदाय से ही संबंध रखता है और विशेष रूप से वहाँ भी श्रीकृष्ण को ही अपना ध्येय बनाता है। किंतु कहीं-कहीं पर इसका रूप शैव अथवा शाक्त संप्रदायों का भी रंग ग्रहण कर लेता है और वहाँ या तो दास्य अथवा वात्सल्य के ही अधिक उदाहरण मिलते हैं। भक्तिधारा के प्रवाह द्वारा इस प्रकार सारे भारत का ही प्रादेशिक साहित्य आप्लावित जान पड़ता है और इसके प्रभाव से स्थानीय लोक साहित्य तक भी अछूते नहीं है।

---

[1] लल्लेश्वरी वाक्यानि, पद २२, पृ० १०

MUTHIGANJ ALLAHABAD

भारतीय प्रेमाख्यानों की प्रवृत्तियाँ

प्रेमाख्यानों की परंपरा बहुत पुरानी है और ये अपने बीज रूप में, प्राचीन वैदिक साहित्य तक के अंतर्गत पाये जाते हैं। ऋग्वेदीय संहिता के कई सूक्त, जिनमें संवादों के प्रयोग आते हैं और जिनमें प्रेम भाव की भी चर्चा है, इन प्रेमाख्यानों की कोटि में रखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए इस संहिता के ९५ वें सूक्त, में जो उर्वशी एवं पुरुरवस का प्रेमालाप आया है अथवा उसके ही १० वें सूक्त में जो यम एवं यमी का संवाद मिलता है, वे दोनों इस प्रकार की रचनाओं के प्रारंभिक रूप की ओर संकेत करते जान पड़ते हैं। उर्वशी एवं पुरुरवस के इस कथोपकथन को बहुत से विद्वानों ने क्रमशः उषा एवं सूर्य के पारस्परिक संबंध के अर्थ में समझाने की चेष्टा की है।

परंतु इस प्रसंग के किसी न किसी बृहद् रूप के फिर शतपथ ब्राह्मण तथा कृष्ण यजुर्वेद के काठक में भी आ जाने से, इस विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता। इसके सिवाय महाभारत एवं पौराणिक साहित्य के रचनाकाल तक जब वही उर्वशी पूरी अप्सरा की कोटि तक पहुँच जाती है तथा पुरुरवस का भी रूप एक राजपुरुष बनकर निखर आता है, तो उन लोगों के प्रणय रहस्य को भली भाँति समझ लेने में विलंब नहीं लगता। हरिवंश, विष्णु पुराण, ब्रह्मपुराण, वायुपुराण तथा वामनपुराण तक तो पुरुरवस एक प्रसिद्ध क्षत्रिय वंश के पूर्व पुरुष का भी रूप धारण कर लेते हैं। फिर भी यम एवं यमी के संवाद को इस प्रकार विकास पाने का कभी अवसर नहीं आता, जिसका कारण यह हो सकता है कि उसमें बहन यमी की ओर से अपने भाई यम के प्रति यौन संबंध का प्रस्ताव है, जो सुसंस्कृत आर्यों की सामाजिक पद्धति के प्रतिकूल जाता दीख पड़ता है।

महाभारत एवं पौराणिक साहित्य में अनेक ऐसे भी प्रेमाख्यान आते हैं, जिनका कोई पता प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं चलता। ये सर्वथा नवीन जान पड़ते हैं, और इस प्रकार के साहित्य को यदि विविध आख्यानों का भांडार भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। महाभारत के आदि पर्व में दुष्यंत एवं शकुंतला का प्रेमाख्यान आता है और उसके वनपर्व में नल और दमयंती की कथा आती है, जिन दोनों की भी चर्चा पीछे विभिन्न पुराणों में की गयी पायी जाती है। इसी प्रकार अर्जुन और उलूपी, अर्जुन और उर्वशी तथा अनिरुद्ध एवं उषा आदि से संबंध रखने वाले अनेक प्रेमाख्यान भी उनमें से कई रचनाओं में उपलब्ध हैं। इन्हें न केवल एक से अधिक बार दुहराया गया है, अपितु इनके आधार पर पीछे बहुत सी सुंदर काव्यकृतियों की भी सृष्टि की गयी है। उदाहरण के लिए दुष्यंत एवं शकुंतला तथा पुरुरवस एवं उर्वशी के प्रेमाख्यानों का आश्रय ग्रहण कर महाकवि कालिदास ने अपने दो अमर नाटकों की रचना की है तथा नल एवं दमयंती की कथा के आधार पर महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य नैषध चरित का निर्माण किया है। कहना न होगा कि ऐसे कवियों ने मूल कथावस्तु को अपने काव्य कौशल द्वारा कलात्मक विस्तार दे दिया है, और उपयुक्त नूतन घटनाओं के विधान विभिन्न पात्रों के सफल चित्रण तथा वातावरणादि के सूक्ष्म अंकन द्वारा ये कृतियाँ वस्तुतः सजीव बन बैठी हैं। ऐसे प्रेमाख्यानों के क्रमिक विकास का इतिहास अत्यत रोचक है और इसका अध्ययन हमें अपनी संस्कृति के समझने में भी सहायक हो सकता है।

प्रेमाख्यानों का विचित्र साम्य

इस प्रकार के वैदिक, पौराणिक अथवा काव्यात्मक आख्यानों की कई बातों में हमें एक विचित्र साम्य दीख पड़ता है। सर्वप्रथम इनके प्रेमी एवं प्रेमी पात्रों में से या तो दोनों ही किन्हीं राज परिवारों के सदस्य हुआ करते हैं अथवा इनमें से एक अर्थात् कम से कम प्रेमी का संबंध किसी ऐसे परिवार से अवश्य रहता है जो निम्न वर्ग का है। इसके अप-

वाद प्रायः वहीं मिला करते हैं, जहाँ प्रेम पहले किसी नारी हृदय में अंकुरित होता है। उदाहरण के लिए उर्वशी एक अप्सरा है, जो अर्जुन के प्रति पहले आकृष्ट होती है और हिडिंबा एक राक्षसी है जो भीम को चाहने लगती है। इस दूसरी दशा में एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि यहाँ प्रेमभाव की परिणति का वैवाहिक संबंध में भी हो जाना निश्चित नहीं रहता। प्रेमारंभ साधारणतः प्रत्यक्ष भेंट, स्वप्न दर्शन अथवा गुण श्रवण से भी हो जाता है और इसके विकास में प्रायः सखी, सखा पक्षियों एवं दैवी शक्तियों तक से सहायता ली जाती है। इसके उलट फेर में कभी-कभी आकस्मिक घटनाओं का भी पूरा हाथ रहा करता है।

इसी प्रकार प्रेमी एवं प्रेमिका के वैवाहिक संबंध का रूप अधिकतर गांधर्व का रहता है और इसके पहले बहुधा स्वयंवरों की भी रचना कर दी जाती है। परंतु ऐसे प्रेमाख्यानों में बहुधा ऐसे अवसर भी देखे जाते हैं जहाँ प्रेमी को प्रेमिकाओं के लिए भीषण युद्ध तक करना पड़ता है। इसके सिवाय ऐसे प्रसंगों का अंत कभी-कभी इस रूप में भी होता है कि इन सुंदरियों का अनेक विरोधियों के बीच में हरण भी करना पड़ता है। फिर भी जहाँ तक सामाजिक वा परंपरागत संबंधों का प्रश्न है, अपनी मर्यादाओं को अक्षुण्ण बनाये रखने की भी भरपूर चेष्टा की जाती है। इस प्रकार के भारतीय प्रेमाख्यानों के उदाहरण हमें वैदिक साहित्य से लेकर प्रांतीय भाषाओं के मध्यकालीन साहित्यों तक में बराबर मिला करते हैं और उनमें प्रमुख अंतर केवल कथावस्तु की सरलता से, उसकी सजावट की ओर उत्तरोत्तर विकास होते जाने में ही लक्षित होता है।

प्रेमाख्यानों का क्षेत्र

लेकिन हमारे यहाँ उपलब्ध प्रेमाख्यानों का क्षेत्र केवल यहीं तक सीमित नहीं है। बौद्धों के पालि साहित्य एवं जैनियों की प्राकृत एवं अपभ्रंश कथाओं के अंतर्गत बहुत से प्रेमाख्यान मिलते हैं जो इनसे

कई बातों में भिन्न प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के प्रेमाख्यान अधिकतर लोक गाथाओं के स्रोतों से आये हैं और तदनुसार उनमें अधिक सरलता एवं निर्व्याजता भी पायी जाती है। उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि उनकी कथावस्तु का संबंध विशेषतः राज परिवारों से ही हो। उनके पात्र बहुधा वैश्यों वा शूद्रादि जाति के लोगों में से चुने गये रहते हैं और उनमें आये हुए राजाओं को भी किसी साधारण वर्ग की स्त्री के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करते कोई संकोच नहीं होता। उदाहरण के लिए बौद्धों के कट्ठहारि जातक राजा ब्रह्मदत्त बन में गा गाकर लकड़ी चुनने वाली लड़की पर आसक्त हो जाता है और इसी प्रकार उन्हीं के मणिचोर जातक वाला वाराणसी नरेश सुजाता नाम की एक स्त्री पर आसक्त हो उसके पति पर मणि की चोरी का अपराध लगाता है, तथा उसका सिर तक कटवा लेना चाहता है, किंतु उस साध्वी की प्रार्थना पर वह इंद्र द्वारा स्वयं मार दिया जाता है।

कट्ठहारि जातक वाले प्रेमाख्यानों में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसका राजा ब्रह्मदत्त भी अपनी प्रेयसी लकड़हारिन के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को लगभग उसी प्रकार अस्वीकार करता है जिस प्रकार शकुंतला के गर्भ से उत्पन्न बालक को अपनाने से राजा दुष्यंत आना-कानी करते हैं और वहीं की भाँति यहाँ भी एक अँगूठी दिखलाकर स्मरण दिलाने की चेष्टा की जाती है तथा अंत में सफलता मिलती है।

जैनियों की प्राकृत गाथाबद्ध रचनाओं तथा उनकी अपभ्रंश धर्म-कथाओं में भी हमें अनेक प्रेमाख्यान मिलते हैं। इनमें लीलावती कथा प्रसिद्ध है, जिसमें प्रतिष्ठान एवं सिंहल के क्रमशः राजकुमार एवं राज-कुमारी के प्रेम एवं विवाहादि का वर्णन आता है। इस कथा के अंतर्गत मनुष्य योनि के अतिरिक्त देवयोनि के भी पात्र भाग लेते दीख पड़ते हैं और इसका रूप दिव्य मानवी बन जाता है। इसी प्रकार अपभ्रंश की प्रेम-कथा 'पउमसिरी चरिउ' के रचयिता ने उसमें प्रेमी तथा प्रेमिका के उनके पुनर्जन्मों के ही अनंतर सफल बनाया है।

इन प्रेमाख्यानों में जैन धर्म में विहित साधनाओं के महत्व एवं कर्म-वाद के निश्चित प्रभावों पर भी विशेष बल दिया गया मिलता है। इनमें से प्रत्येक के अंतर्गत एक प्रधान कथा में अनेक उपकथाएँ क्रमशः गुंफित होती चली जाती है और अंत में निष्कर्ष निकल आता है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक कथावस्तु जहाँ अपने सीधे-सादे रूप में रहती है, लोकगाथा में गिनी जाती है, किंतु जैनियों के यहाँ उनकी धर्म-कथा का आधार बनकर वही एक विचित्र रूप धारण कर लेती है। उदाहरण के लिए सदयवत्स सावलिंगा की जो प्रेमकथा राजस्थानी भाषा में मिलती है, वह एक शुद्ध प्रेमाख्यान के रूप में प्रचलित है, किंतु उसी का गुजराती रूपांतर जैन रचयिताओं के हाथ में पड़कर वृहदाकार धारण कर लेता है, और श्रावक धर्म के उपदेश का साधन भी बन जाता है।

इसी प्रकार एक दूसरे ढंग का उदाहरण हमें तमिळ साहित्य में मिलता है जहाँ जैन कवि इलंगो द्वारा निर्मित शिलप्पदिकारम् में कण्णकी एवं कोवलन की कथा अपने पूर्वार्द्ध में, एक सुन्दर लोकगाथा के रूप में चलती है किंतु अपने मणिमेखलै वाले उत्तरार्द्ध रूप में शाहनार कवि के हाथों में पड़ कर बौद्ध धर्म के प्रचार का साधन बन जाती है और उसमें वह सरलता नहीं रह पाती।

लोक गाथाएँ जहाँ कहीं भी अपने विशुद्ध प्रारंभिक रूपों में पायी जाती हैं, अत्यंत मार्मिक और मनोहर कही जा सकती हैं। राजस्थान गुजरात, पंजाब, काश्मीर तथा अन्य कई प्रांतों की भाषाओं में ऐसी रचनाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। राजस्थानी का 'ढोला मारूरा दूहा' नामक प्रमाख्यान एक ऐसी ही प्रेमगाथा के उदाहरण में दिया जा सकता है। इसके प्रेमी एवं प्रेमिका के निश्छल उद्गार, उनका निर्विकार भोलापन तथा उनकी आस्था और उत्साह से भरे सरल प्रयत्न हमें अपनी ओर बरबस खींच लेते हैं, हम उनकी जीवन यात्रा में उनके साथ चलने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं और उनकी हल्की से हल्की चेष्टा भी हमें प्रभावित किये बिना नहीं रहती।

ढोला मारूरा दूहा पर अपभ्रंश एवं चारण काल की प्रभाव स्पष्ट है और यह अपने ढंग की अद्वितीय प्रेमगाथा है। ससि व पूर्णो, हीर व राँझा, मैनासत, माधवानल कामकंदला आदि भी प्रायः इसी वर्ग में आती हैं, और ये भी अपने अपने क्षेत्रों में उसी प्रकार लोकप्रिय हैं। माधवानल कामकंदला की प्रेमगाथा के तो अनेक रूप प्रचलित हैं और उसमें कई आवश्यक परिवर्तन भी हो चुके हैं। किंतु उसकी मूल कथावस्तु को पहचान पाने में विशेष विलंब नहीं लगता और यही बात अन्य अनेक लोक गाथाओं में भी चरितार्थ की जा सकती है। इन लोकगाथा परक प्रेमाख्यानों में न तो पात्रों का बाहुल्य होता है और न इनकी विविध घटनाओं में ही कोई जटिलता आ पाती है। इनके कथानक का क्रमिक विकास आप से आप स्वाभाविक ढंग से होता चला जाता है और इनके बीच वाले वर्णन भी अधिक बाधक नहीं होते।

लोक गाथा का प्रभाव

यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो बहुत से साहित्यिक प्रेमाख्यानों को भी हम किसी न किसी लोकगाथा से ही प्रभावित पायेंगे। साहित्यिक प्रेमाख्यानों में से जिनकी कथावस्तु काल्पनिक है उनका सांचा इन लोकगाथाओं जैसा ही निर्मित रहा करता है, जो पौराणिक है उनमें सजीवता लाने के लिए हमें इन प्रचलित प्रेम कहानियों का ही रंग भरना पड़ता है। यहाँ तक कि जो प्रेमाख्यान ऐतिहासिक घटनाचक्रों पर आश्रित हैं, और जिनके पात्र कभी जीवित रह चुके हैं, उन पर भी इनके रोमांस की पालिश चढ़ानी ही पड़ जाती है।

बहुत से ऐतिहासिक पात्रों पर इन आख्यानों का रंग इतना गाढ़ा चढ़ जाता है कि वे वास्तविक व्यक्तियों को अपदस्थ से कर देते हैं और सर्वसाधारण के मानस पटल पर उनकी छाप सदा के लिए अमिट बन जाती है। उदाहरण के लिए पद्मिनी के प्रेमाख्यान में हमें जिस अलाउद्दीन के दर्शन होते हैं उसका पता इतिहासकारों की रचनाओं में नहीं चलता।

उनमें केवल थोड़े ही संकेत भर मिलते हैं जिनकी प्रामाणिकता के विषय में अभी आज तक विवाद है। पृथ्वीराज एवं संयोगिता की कहानी जिस रूप में गढ़ी जा चुकी है उसका पाना किसी भी इतिहास ग्रंथ में दुर्लभ है, किंतु वही रूप हमारे लिए अधिक सजीव है।

प्रेमाख्यानों का एक रूप हमें वीरगाथा काल की प्रेमकथाओं में भी मिलता है। इसमें कोई राजपुरुष अथवा बादशाह किसी सुंदरी का वर्णन सुन कर उसकी ओर आकृष्ट होता है और उसे पाने के लिए अनेक प्रयत्न करने लग जाता है। उसके यहाँ दूत भेजना, प्रलोभनों का साधन उपस्थित करना तथा उसके पति एवं पिता को धमकाना आरंभ हो जाता है। इसके लिए अनेक राजनीतिक दाँव-पेंच खेले जाते हैं। धोखेबाजी की जाती है, और बहुत से भीषण युद्ध भी किये जाते हैं। ये प्रयत्न प्रेमियों के लिए न केवल अपनी मान मर्यादा के प्रश्न खड़े कर देते हैं, अपितु इन पर जीवन-मरण तक निर्भर हो जाता है और वे अपनी सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से अपना सभी कुछ बलिदान कर देते हैं।

किंतु ऐसे प्रेमाख्यानों में सदा एकांतिक प्रेम ही काम करता नहीं जान पड़ता और न इनका पूरा प्रभाव सदा सभी प्रेम पात्रियों पर एक समान लक्षित हुआ करता है। ऐसे प्रसंगों में शुद्ध प्रेम का स्थान अधिकतर कामुकता ले लिया करती है और प्रेमाख्यान का रूप केवल गौण बन कर ही रह जाता है। मुस्लिम शासकों से संबंधित अथवा बहुत से राजपूत राजाओं पर आश्रित प्रेमाख्यानों के विषय में यह बात पूरे तौर से लागू होती है।

नवीन पद्धति का सूत्रपात्र

सूफ़ियों के भारत में आकर अपना मत प्रचार करने लगने पर एक किंचित् नवीन प्रेमाख्यान पद्धति का सूत्रपात्र हुआ। सूफ़ी लोग प्रेम की पीर को प्रश्रय देते थे और वे इश्क़ मज़ाजी में भी इश्क़ हक़ीकी का बीज पाया करते थे। इसलिए उन्होंने भारतीय प्रेमाख्यान की प्रचलित परंपराओं का सूत्र पकड़ कर उसे अपने 'मज़हबी नुक्ते नज़र' के अनुसार

मोड़ने के प्रयत्न किये। उन्होंने बहुत से ऐसे प्रेमाख्यानों को अपनाना आरंभ किया जो अत्यंत लोकप्रिय थे और उन्हें उपमिति कथाओं के रूप दे दिये। उन्होंने कई एक ऐतिहासिक एवं अर्द्ध पौराणिक प्रेम-कथाओं को भी लिया और उन पर अपना रंग चढ़ाया।

इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने प्रेम कथाओं की कथावस्तु का विकास अपनी प्रेम साधना पद्धति के समानांतर करना चाहा। यह एक ऐसा प्रयत्न था जिसमें पूरी सफलता का पाना बहुत कठिन था और इसीलिए वे सभी पूर्णतः कृतकार्य भी नहीं हो सके। फिर भी विरह यातना, कष्ट सहन, तथा सौंदर्यादि के अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों द्वारा उन्होंने प्रेम साहित्य के एक नवीन अंग की पूर्ति कर दी और अपनी इस्लामी विचारधारा के मनोरम चित्रों का अंकन कर उन्हें भारतीय साहित्य में एक गौरवपूर्ण स्थान दिला दिया। उनका परमात्मा को प्रियतमा मान कर चलना, विरह को प्रेम से भी अधिक महत्व देना तथा एक रचना पद्धति विशेष को अपनाकर उसे अधिकाधिक प्रचलित करने में प्रयत्नशील होना भारतीय न होने पर भी आज स्थायी रूप ग्रहण कर चुका है।

RAMAKRISHNA MISSION LIBRARY
MUTHIGANJ ALLAHABAD

भारतीय सूफ़ियों का सांस्कृतिक योग

भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और इसका इतिहास भी कम पुराना नहीं है। इसके निवासी चिरकाल से ही बाहर के लोगों के साथ संपर्क रखते आये हैं और आचार-विचार के विषय में, उनसे इनका बराबर आदान-प्रदान भी होता रहा है। इसलिए यहाँ के लोगों की संस्कृति क्रमशः बहुरंगिनी बनती चली आयी है और इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसके संश्लिष्ट होने में ही दीख पड़ती है। क्या भाषा-भाव, क्या मत मतांतर, क्या कला-उद्योग, क्या रहन-सहन, क्या प्रथा-परंपरा, क्या पर्व-त्योहार और क्या उत्सव-मनोरंजन—यदि हम इन पर कुछ भी ध्यान देकर विचार करें तो—इसके इन सभी अंगों में एक विचित्र वैविध्य प्रतीत होगा और यह पंचमेल भी केवल रूपगत मात्र ही नहीं है। इसकी बहुत सी बातें हमें मानवसमाज के उन स्तरों तक की ओर भी संकेत करती जान पड़ती है जो अभी तक अर्द्धविकसित कहे जाते हैं। बात यह है कि हमारा संपर्क, कभी न कभी, अर्द्धसभ्य आर्येतर जातियों से लेकर पूर्णसभ्य एवं प्रगतिशील आधुनिक राष्ट्र तक से रहता चला आया है और हमारी वर्तमान संस्कृति के निर्माण एवं विकास में उन सभी ने अपना-अपना हाथ बँटाया है। इसके सिवा, भारतीय संस्कृति के अंतर्गत हमें विभिन्न विषमताओं का केवल समाहार ही नहीं लक्षित होता। इसके भीतर उन सभी का कुछ न कुछ परिमार्जन भी होता आया है और तदनुसार उन पर सामंजस्य और समन्वय का रंग भी चढ़ता गया है।

सूफ़ी लोगों का प्रवेश इस देश में, पहले पहल, ऐसे समय हुआ जब इसके प्राचीन युग का प्रायः अंत हो चुका था। उस समय तक इसके मध्य-युग का, वस्तुतः आरंभ भी हो चुका था और भारतीय समाज उसके लिए तैयारियों में लगा हुआ था। इसकी चिरकालीन भावनाओं पर उस

समय तक, बौद्ध एवं जैन धर्मों की श्रमण संस्कृति का प्रभाव पूर्णरूप से पड़ चुका था और तंत्रवाद एवं योगवाद के अधिकाधिक प्रचार ने इसकी धार्मिक मनोवृत्ति में बहुत कुछ परिवर्तन भी ला दिया था। अपनी स्थिति पर एक बार पुनर्विचार करने की चेष्टा में प्राचीन दार्शनिक ग्रंथों पर विभिन्न भाष्यों की रचना आरंभ हो गयी थी और नवीन युग के आदर्शों पर समाज का पुनः संगठन करने के लिए, विविध निबंधों एवं स्मृतियों द्वारा व्यवस्थाएँ भी दी जाने लगीं थीं। इस प्रकार भारतीय लोग, उस समय तक, अपनी परंपरागत रूढ़ियों और स्वीकृतियों को समझने और सँभालने की ओर पूर्णतः अग्रसर हो चुके थे और इसके लिए प्रयत्न करते समय, उनकी प्रवृत्ति का झुकाव क्रमशः लोकोन्मुख भी होता जा रहा था। फलतः ऐसे ही वातावरण ने पीछे सर्वजनोपयोगी भक्तिविषयक आंदोलनों का मार्ग प्रशस्त किया और इसी ने देश में प्रचलित अपभ्रंशों के आधार पर, विविध लोकभाषाओं को जन्म देकर उन्हें प्रश्रय और प्रोत्साहन भी प्रदान किया। सूफ़ियों के इस समय आ जाने के कारण हमारे इस सांस्कृतिक विकास में एक नवीन स्फूर्ति का संचार हुआ और उन्होंने इसके निर्माण कार्य में योगदान भी दिया।

सूफ़ियों का संप्रदाय इस्लाम धर्म का एक अंग था और उस पर 'कोरान शरीफ़' तथा हज़रत मुहम्मद के जीवन का गहरा प्रभाव था। किंतु उसके प्रमुख प्रचारकों ने, अपने दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाये रखने की चेष्टा में, उसमें बहुत सी ईसाई, नव अफ़लातूनी, बौद्ध, पारसी एवं हिन्दू मान्यताओं का भी समावेश कर लिया था। तदनुसार, उसका भी रूप कुछ न कुछ समन्वयात्मक ही हो गया था, और उनके प्रचार कार्य की आकर्षक शैली के भी कारण, उसके लोकप्रिय बन जाने में उतनी कठिनाई नहीं पड़ी। फलतः भारत में इस्लाम धर्म का स्थायी प्रभाव जितना इसके द्वारा पड़ा उतना मुस्लिम शासकों की बलपूर्वक धर्मांतरित करने वाली नीति के सहारे भी, नहीं पड़ पाया। यदि सच पूछा जाय तो भारतीय इस्लाम धर्म का वर्तमान रूप भी अधिकतर उन

सूफ़ियों की ही देन है। सूफ़ियों ने यहाँ आकर भारतीय विचारधारा पर अपना प्रभाव डाला, नवीन धार्मिक आंदोलनों को अनुप्राणित किया और भारतीय समाज के नव विकसित रूप तथा लोकभाषा-साहित्य के निर्माण में भी अपना सहयोग प्रदान किया।

भारतीय समाज का तात्कालीन रूप विभिन्न जातियों के एक न्यूनाधिक विश्रृंखलित समुदाय मात्र का था। इसका प्रत्येक अंग अपनी-अपनी मान्यताओं के लिए स्वतंत्र था और उनमें से किसी में न तो सामूहिक एकता की भावना थी और न वह इसे आवश्यक मानता था। धार्मिक विश्वासों और साधनाओं का भी रूप यहाँ पर प्रायः व्यक्तिगत ही था सामुदायिक नहीं था। परंतु इस्लाम-धर्म के इन सूफ़ी अनुयायियों ने जब संघबद्ध धर्माचरण पर विशेष बल देना आरंभ किया तो, इनके प्रचार कार्य की प्रतिक्रिया से यहाँ के लोगों के भीतर भी क्रमशः 'हिंदूपन' का भाव जाग्रत होने लगा और इनके सामने किसी न किसी प्रकार की सामूहिक एकता का एक धुंधला आदर्श निर्मित होने लगा। धर्मशास्त्रों के पंडित विविध जातियों और संप्रदायों के लिए सर्वसम्मत नियम ढूँढ़ निकालने के प्रयत्न करने लगे और सभी हिंदुओं के लिए लगभग एक ही प्रकार के पर्व-त्योहार, व्रत-उपवास एवं संस्कारों के लिए समुचित व्यवस्था करने के उद्देश्य से, शास्त्रीय वचनों की चर्चा एवं व्याख्या भी की जाने लगी। इसी प्रकार भक्ति-मार्ग के अनुयायियों में कहीं-कहीं पर सामूहिक प्रार्थना की परंपरा भी, उनके अनुकरण में, चल निकली और सबका एक साथ मिलकर भजन एवं कीर्तन भी होने लगा।

सूफ़ियों के कारण भारतीयों की गुरुभक्ति विषयक भावनाओं में भी एक बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। भारतीय विचारधारा के अनुसार किसी गुरु के प्रति प्रदर्शित की जाने वाली भक्ति, विशेषतः उसके द्वारा शिक्षा प्राप्त शिष्य की ओर से ही, देखी जाती थी। यह उसे कभी-कभी अपने पिता से भी बढ़कर समझा करता था और दार्शनिक उपदेशों का प्रदाता गुरु 'यथादेवे तथा गुरौ' के अनुसार देव तुल्य भी हो जाता था शिष्य

वा साधक ऐसे गुरु के निकट 'नमित्रागिए' होकर जाता था और 'परिप्रश्न' तथा 'सेवा' द्वारा उससे रहस्यों का ज्ञान उपलब्ध करता था। परंतु सूफ़ियों की धारणा के अनुसार प्रत्येक धर्मोपदेशक पीर में मानवत्व के साथ ही देवत्व की भावना भी अंतर्हित रहा करती थी। वह स्वयं देव रूप हो जाया करता था और उसका प्रत्येक मुरीद उससे आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त करता हुआ उसके साथ एक ऐसी आनुवंशिक शृंखला निर्मित कर देता था जिसकी सभी कड़ियाँ तत्वतः एक और अभिन्न थीं। सूफ़ियों की इस मान्यता का भी पूरा प्रभाव पड़ा। शांकराद्वैतवाद के अनुयायियों ने स्वामी शंकराचार्य को स्वयं शिव का रूप मान लिया और विशिष्टाद्वैत के आचार्यों तथा आळवारों की मूर्तियों की पूजा स्वयं विष्णु की भाँति, सांप्रदायिक मंदिरों में होने लगी। इसके सिवाय इन दोनों संप्रदायों के प्रधान मठों में क्रमशः शकराचार्यों तथा रामानुजाचार्यों की परंपराएँ भी चल निकलीं और वे आज तक वर्तमान हैं।

इसी प्रकार सूफ़ियों की प्रेमतत्व संबंधी धारणा का भी प्रभाव यहाँ पर बिना पड़े नहीं रह सका। भारतीय प्रेमभाव का रूप पहले शुद्ध मानवीय मात्र था और उसकी गति ईश्वरोन्मुख नहीं थी और न उसे आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचाने की कभी कल्पना भी की जाती थी। सूफ़ियों ने ही यहाँ पहले पहल 'इश्क़ मज़ाज़ी' तथा 'इश्क़ हक़ीक़ी' की सात्विक एकता का आदर्श सबके सामने रखा। उन्होंने अपने यहाँ की प्रेमगाथा-शैली के सहारे इस बात को सिद्ध करने का सफल प्रयत्न भी किया कि पार्थिव प्रेम किस प्रकार ईश्वरीय बन सकता है। यह अवश्य है कि सूफ़ियों के आदर्शानुसार केवल पुरुष की ओर से स्त्री के प्रति प्रदर्शित किये जाने वाले प्रेम को ही अधिक महत्व दिया जाता रहा और इसी बात को ये ईश्वरीय प्रेम के संबंध में भी घटाने की चेष्टा करते रहे। किंतु इसके कारण यहाँ पर कोई बाधा नहीं पड़ सकी और भारतीयों ने अपने, स्त्री की ओर से पुरुष के प्रति व्यक्त किये जाने वाले प्रेम के आदर्श का निर्वाह दांपत्य भाव की भक्ति का एक ऐसा मार्ग निकाल कर, जिसके अनुसार

केवल परमात्मा ही एक मात्र पुरुष समझा गया और सभी आत्माएँ उसकी नारी मान ली गईं। इसके सिवाय भारत में जहाँ स्वकीया का प्रेम अधिक महत्व रखता था और परकीया संबंधी प्रेमभाव को उससे निम्नतर कोटि में स्थान दिया जाता था वहाँ सूफ़ियों की प्रेमपद्धति के अनुसार, इन दोनों की ही महत्ता एक समान स्वीकार कर ली गई।

सूफ़ियों के प्रेमादर्श का परिणाम यहाँ पर एक दूसरे ढंग से भी दीख पड़ा। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के लगभग उत्तरी भारत में निर्गुणोपासक संतों की एक परंपरा चल निकली जिनकी बहुत सी बातें सूफ़ियों के सिद्धांतों से मिलती-जुलती थीं। इन संतों ने भी सूफ़ियों की ही भाँति निराकार परमात्मा को अपनी प्रेम लक्षणा भक्ति का लक्ष्य बनाया और, उस अशरीरी प्रेमपात्र के साथ प्रत्यक्ष संयोग उपलब्ध न कर सकने की दशा में, उन्हीं के आदर्शानुसार, विरहावस्था का अधिक वर्णन भी किया। इतना ही नहीं संत कबीर साहब आदि की उपलब्ध रचनाओं को पढ़ने पर कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होता है कि इन लोगों ने उन सूफ़ियों का अनुसरण कई अन्य बातों में भी किया था। कबीर साहब की रचनाओं के शीर्षकों पर प्रसिद्ध सूफ़ी फ़रीदुद्दीन अत्तार के ग्रंथ 'पंदनामा' का प्रभाव बतलाया जाता है[1]। इसी प्रकार गुरु नानक की उपासना के चार अंगों—सरन खंड, ज्ञानखंड, करमखंड, एवं सचखंड—के आदर्श सूफ़ियों के शरीअत, मारिफत, उकबा तथा लाहूत नामक मुकामात समझे जाते हैं।[2] इसके सिवाय इन संतों ने, सूफ़ियों के ही सिद्धांतों के अनुकरण में सृष्टि के उपादान कारण को 'नूर' की संज्ञा दी, इसके स्रष्टा को 'कर्ता' के नाम से अभिहित किया, अपने सद्गुरु को, हृदय को दर्पणवत् स्वच्छ एवं निर्मल कर देने वाला

---

1. Dr Tarachand : 'Influence of Islam on Indian Culture' p. 151
2. Do. p. 176

'सिकलीगर' ठहराया, भारतीयों के शास्त्रसंमत षड्रिपुत्रों में से केवल पाँच के ही नाम लिए और, उनकी शब्दावली के महत्वपूर्ण शब्दों को अपनाने मात्र से ही संतोष न कर, बहुधा अशिक्षित होने पर भी फ़ारसी भाषा में पद्यरचना का प्रयास किया। इन संतों में से कई एक का प्रत्यक्ष संबंध भी किसी न किसी सूफ़ी के साथ बतलाया जाता है। गुरु नानक एवं शेख़ फ़रीद के बीच गाढ़ी मैत्री थी, संत दादूदयाल को आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान करने वाले शेख़ बुड्ढन सूफ़ियों के क़ादिरी संप्रदाय के एक प्रसिद्ध पीर थे, संत बाबालाल के साथ सत्संगों के ही परिणाम स्वरूप शाहज़ादा दारा शिकोह को 'मारिफ़त' का राज़ हासिल हुआ था और इसी प्रकार सूफ़ी पीरों के वातावरण में आने के कारण, संत प्राणनाथ, रामचरन एवं दरिया साहब (बिहारी) की विचारधारा में इस्लामी धारणाओं का प्रवेश हुआ था और उन्होंने अपने अनुयायियों में इनका प्रचार भी किया था।

सूफ़ियों की विचारधारा तथा साधना-पद्धति आदि का प्रभाव दक्षिणी एवं पूर्वी भारत पर भी कम नहीं पड़ा। स्वामी रामानुजाचार्य की प्रपत्ति विषयक भावना के मूलस्रोत का पता लगाते समय बहुत से विद्वान इस्लाम शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ आत्मसमर्पण की भी ओर संकेत करते हैं और इसी प्रकार लिंगायत शैवों के जगद्गुरु सूचक शब्द 'अल्लामा प्रभु' का साम्य अरबी भाषा की शब्दावली में ढूँढ़ा करते हैं। इन वैष्णव एवं शैव संप्रदायों की ओर से वर्णाश्रमधर्म की संकीर्णता का परित्याग किये जाने का श्रेय भी सूफ़ियों के प्रभाव को ही दिया जाता है। लिंगायतों ने अपने संप्रदाय के सर्वप्रथम प्रचारक बसव को स्वयं शिवरूप में स्वीकार किया और उनके प्रथम चार उत्तराधिकारियों अर्थात् रेवान, मरूल, एकोराम एवं पण्डित को भी हज़रत मुहम्मद के चार इमामों की ही भाँति, लगभग उतना ही महत्त्व प्रदान किया। इन लिंगायतों का अपने अल्लामाओं के नेतृत्व में अधिक से अधिक आस्था रखना और युद्धादि तक में प्रवृत्त होना भी इसी बात को सिद्ध करता है।

पूर्वी भारत के बंगदेशीय 'धर्मसंप्रदाय' के ग्रंथ 'शून्यपुराण' में एक आख्यान मिलता है जिसके अनुसार 'जिस समय ब्राह्मणों ने सर्वसाधारण के ऊपर अपना अत्याचार आरंभ किया उस समय सबकी रक्षा के लिए 'धर्म' स्वयं बैकुण्ठ से चल पड़े और यहाँ आते समय उन्होंने एक मुस्लिम का रूप धारण करके अपना नाम 'खोदा' रख लिया और सभी देवों ने भी ऐसा ही किया। इस प्रकार की भावनाओं द्वारा प्रभावित होने के ही कारण वहाँ की जनता में 'सत्यपीर' की भी उपासना स्वीकार की थी और महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय की एक शाखा के रूप में 'कर्ताभाजा' लोगोंका पंथ प्रचलित हुआ था। इन कर्ताभाजाओं के मंतव्यानुसार ईश्वर एक मात्र है जो कर्ता के रूप में अवतरित होता है, महाशय अर्थात् सद्गुरु को ही सर्वेसर्वा मानना चाहिए, सांप्रदायिक मंत्र का पाठ दिन में पांच बार नियमित रूप से करना चाहिए, शुक्रवार को अधिक महत्व देना चाहिए और प्रेमाभाक्ति ही एक मात्र ऐसी साधना है जिसके द्वारा अंतिम सांप्रदायिक लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है और ये सभी बातें सूफ़ियों के ही अनुकरण में स्वीकृत थीं इसके सिवाय बंगाल के सहजिया वैष्णवों की प्रेमसाधना तथा वहाँ के बाउलों को रहनी अर्थात् आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों का निर्माण भी ठीक सूफ़ियों की भावधारा के ही अनुकूल हुआ था और इन दोनों का प्रचार वहाँ पर सफल रहा।

बंगाल के इन धार्मिक आंदोलनों ने जिस प्रकार यहाँ की जनता में हिंदू मुस्लिम ऐक्य की भावना प्रचलित की उसी प्रकार भारत के सुदूर उत्तर काश्मीर प्रांत में भी वहाँ के शाह हमदान, मख़दूम शाह, शेख़ नूरुद्दीन आदि सूफ़ियों ने अपना प्रभाव डाला। वहाँ की प्रसिद्ध स्त्री संत लालदेद का शाह हमदान के साथ मित्रता का भाव था और उन दोनों ने इस भावना के प्रकार में सहयोग किया। काश्मीर की 'मियाँ राजपूत' जैसी कई जातियों की उत्पत्ति भी ऐसे ही कारणों से हुई थी। इसी प्रकार सूफ़ी संतों द्वारा ऐक्य भावना का प्रचार भारत के सुदूर पश्चिमी प्रदेश सिंध

में भी हुआ था और उसके कारण वहाँ पर सांप्रदायिक संकीर्णता का प्रायः लोप हो गया था। शाह लतीफ़ और सचल जैसे सूफ़ियों ने वहाँ पर ऐसा मंत्र फूँका जिसके प्रभाव में वहाँ की भाषा एवं भाव दोनों में प्रचुर उदारता आ गई। भारतवर्ष के अंतर्गत पूर्वी बंगाल काश्मीर एवं सिंध ही ऐसे तीन प्रदेश थे यहाँ पर हिंदू एव मुस्लिम समाजों में अत्यंत कम अंतर रहा।

भारत के साहित्य, संगीत एव अन्य ललित कलाओं पर भी सूफ़ियों का प्रभाव उपेक्षणीय नहीं है। हिंदी भाषा के संत साहित्य पर पड़े हुए इनके प्रभाव का उल्लेख अभी कुछ ही पहले कर चुके हैं। सूफ़ियों ने इस भाषा के लिए जो एक पृथक् प्रेमगाथा साहित्य का निर्माण किया है उसका महत्त्व भी इसके किसी भी अन्य वांग्मय से कम नहीं। मुल्ला दाऊद से लेकर अभी विक्रम की बींसवीं शताब्दी तक के सूफ़ी कवियों ने इसे एक से एक अनमोल रत्न प्रदान किये हैं। भारत के फ़ारसी एवं उर्दू साहित्यों से तो यदि सूफ़ी भावनाएँ तथा सूफ़ी शब्दावली निकाल दी जाय तो उनमें कुछ रह ही नहीं जाता। लहदी, सिंधी, पंजाबी, एवं काश्मीरी साहित्यों में भी जो कुछ ठोस और आकर्षक है वह अधिकतर इन सूफ़ियों की ही देन है। सूफ़ियों ने भारतीय संगीत की परंपरा को भी क़व्वाली, गज़ल, खयाल, एवं अन्य इस प्रकार के गति एवं तर्ज़ दी है। भारतीय शिल्प के लिए उन्होंने जो कर्ता और समाधियों के सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे इस देश के लिए गौरव की वस्तु है।

सूफ़ियों के इस प्रकार हमें स्थायी रूप से प्रभावित करने का वास्तविक रहस्य इस बात में निहित था कि उन्होंने यहाँ आकर हमारी सभी बातों को पहले समझने का प्रयत्न किया और उनमें से बहुतों को अपनाकर हमारे समान ही लेने की भरपूर चेष्टा भी की थी।

भारतीय संतों का सांस्कृतिक योग

संतों की परंपरा का सूत्रपात यहाँ पर उस काल में हुआ जब कि इस देश के इतिहास का प्राचीन युग समाप्त हो चुका था। उस समय तक उसके मध्य-युग का भी आरंभ हो गया था और यहाँ के निवासियों का ध्यान अपने विषय में एक बार पुनर्विचार करने की ओर क्रमशः अधिकाधिक आकृष्ट होता जा रहा था। भारतीयों की अनेक भावनाओं पर शताब्दियों से समय-समय पर आती रहने वाली विविध जातियों ने बहुत पहले से ही अपना न्यूनाधिक प्रभाव डाल रखा था और इस देश की श्रमण संस्कृति ने भी उनकी विचारधारा में अनेक परिवर्तन ला दिये थे। इसके सिवाय सम्राट् हर्ष के अनंतर उत्पन्न हुई राजनीतिक हलचलों के कारण उनकी सामाजिक दशा भी क्रमशः बदलती जा रही थी और उनके सामने अनेक नये-नये प्रश्न उठते जा रहे थे। इनमें कुछ तो ऐसे थे जिनका संबंध अपने समाज के पुनः संगठन से था जो विविध नवागत आदर्शों के आलोक में सामंजस्य बिठाने से ही पूर्ण हो सकता था और दूसरे इस प्रकार के थे जिनके अनुसार एक बार फिर विचार न कर लेने पर अपनी परंपरागत स्वीकृतियों का पूर्ववत् सँभालना किंचित् कठिन प्रतीत हो रहा था। अतएव एक ओर जहाँ उनकी प्रवृत्ति नयी स्मृतियों तथा निबंधों की रचना की ओर उन्मुख हो रही थी वहाँ दूसरी ओर यहाँ के दार्शनिक लोग अपने प्रमुख मान्य ग्रंथों को नये ढंग से समझने एवं समझाने की चेष्टा में विभिन्न भाष्यों तथा टीकाओं का निर्माण करते जा रहे थे और इस प्रकार एक सैद्धांतिक वातावरण की भी सृष्टि होती जा रही थी।

उपर्युक्त प्रयत्नों में उन्हें सबसे अधिक प्रेरणा उस समय मिली जब से यहाँ पर इस्लाम धर्म का भी प्रचार आरंभ हो गया और एक नितांत

भिन्न समाज एवं संस्कृति के संघर्ष में आ जाने के कारण उन्हें अपनी अनेक बातों में आमूल परिवर्तन लाने तक की समस्या का सामना करना पड़ गया। पहले के विदेशी यहाँ आने पर अपनी किसी न किसी विशेषता की केवल एक छाप मात्र ही डाल पाते थे और अंत में वे भारतीयों के साथ प्रायः घुलमिल भी जाया करते थे। किंतु इस्लाम धर्म के अनुयायियों की प्रकृति उनसे भिन्न थी। उनका न केवल अपना समाज ही सुसंगठित था अपितु वे लोग दृढ़ सांप्रदायिक भावनाओं द्वारा भी अनुप्राणित थे जिस कारण उनके संपर्क में आ जाने पर भारतीय समाज को उनकी कई बातों द्वारा आप से आप प्रभावित हो जाना पड़ता था और वे बहुधा उनको झकझोर तक दिया करती थीं। उनकी एकेश्वर-वादी भावना, सामाजिक भेदभाव विहीनता तथा धार्मिक समानता के वैशिष्टय ने यहाँ की दलित, परिगणित एवं पिछड़ी हुई जातियों में एक नवीन आशा का संचार कर दिया जिससे उनमें नव जागरण एवं स्वाव-लंबन का भाव उठने लगा और इसकी प्रतिक्रिया में यहाँ के उच्च-वर्गीय लोगों को भी अपने नियंत्रण के नियम बहुत कुछ ढीले करने पड़ गये। फलतः भारतीय समाज की सामूहिक मनोवृत्ति का झुकाव क्रमशः लोकोन्मुख होता गया तदनुसार यहाँ धार्मिक क्षेत्र में भक्ति-साधना का आंदोलन चला और साहित्य रचना के क्षेत्र में भी लोक-भाषाओं का व्यवहार अधिक वेग के साथ होने लगा और उसमें निम्नवर्ग तक के लोग भी स्वभावतः सहयोग प्रदान करने लगे।

संत परंपरा की प्रतिष्ठा, सर्वप्रथम, ऐसे ही वातावरण में हुई जिस कारण संतों ने इस प्रकार के प्रायः प्रत्येक आंदोलन में सक्रिय भाग लिया और अपनी अटपटी बानियों द्वारा सर्वसाधारण की चेतना को पुनर्जाग्रत कर भारतीय संस्कृति के विकास में अपना हाथ बँटाया। संतों के पहले से ही सिद्ध, नाथ पंथी, जैन मुनि, आळवार एवं कतिपय सूफ़ी जैसे क्षेत्रों में काम करते आ रहे थे। वे भी अधिकतर समाज के निम्न-वर्गों में ही पले-पोसे रहते थे और, तात्कालीन वातावरण के कारण

उत्पन्न विचारस्वातंत्र्य द्वारा प्रेरणा ग्रहण कर समयोचित विचार प्रकट किया करते थे। सिद्धों का पृष्ठाधार बौद्धधर्म का महायान संप्रदाय था जिसके विकसित रूप वज्रयान एवं सहजयान की साधनाओं का वे अनुसरण करते थे तथा नाथ पंथी एवं जैनमुनि भी, इसी प्रकार, क्रमशः अपने मूल शैव और जैन धर्मों की साधनाओं का ही अवलंबन अधिक श्रेयस्कर समझते आ रहे थे। वैष्णव आळ्वारों की भक्ति का रूप भी प्रधानतः षोडशोपचार पूजा से ही समन्वित रहा और मुस्लिम सूफ़ी अपने "इश्क़ हक़ीकी' की धुन में निरत रहने को सर्व साधारण के लिये भी सर्वोच्च साधना मानते आये। इन पांचों में से कोई भी अपने मूलाधार की सांप्रदायिकता का मोह न छोड़ सका था और न वह तदनुकूल साधनाओं का पूर्ण परित्याग ही कर पाया था। वे सदा एक दूसरे को अपने से कुछ न कुछ भिन्न मानते आये थे और वे उसकी विशिष्ट साधना को भी उचित महत्व देना नहीं जानते थे। उनकी कार्य पद्धति मूलतः अपने-अपने सांप्रदायिक ढंगों से ही चलती रही और वे केवल प्रसंगवश ही कुछ ऐसे उद्‌गार प्रकट कर देते रहे जो उस अवसर के अनुकूल पड़ जाते थे। संतों ने इसके विपरीत न केवल उनकी विभिन्न साधनाओं में समन्वय लाने की चेष्टा की अपितु मानव जीवन के महत्व की ओर ध्यान देना भी अपना कर्तव्य समझा।

संतों का दार्शनिक दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक था। वे साधारणतः अद्वैतवादी विचारधारा के समर्थक थे और तदनुसार वे परमात्मतत्व की एक मात्र सत्ता के साथ अपने को अभिन्न भी माना करते थे। उनकी समग्र साधनाओं का लक्ष्य, इसीकारण, केवल उस मनोदशा का उपलब्ध कर लेना मात्र था जिसके निरंतर एक समान बने रहने के फलस्वरूप उन्हें सदा अपनी उस एकता की अनुभूति होती रहे और उस तत्व के साथ तदाकारता ग्रहण करने की स्थिति में ही रह कर वे अपना जीवन भी व्यतीत कर सकें। इसके लिए उन्हें सबसे उपयुक्त साधना 'सुरति-शब्दयोग' की जान पड़ती थी, किंतु अपने उद्देश्य की पूर्ति में

यत्किंचित् सहायता करने वाली किसी भी अन्य साधना को वे कभी हेय नहीं समझते थे। वे योगियों के हठयोग, सूफियों के प्रेमयोग तथा वैष्णवों के भक्ति योग जैसी साधनाओं के महत्व को भी एक समान स्वीकार करते थे और उन्हें भी अपना कर चलने में उन्हें न तो कोई आपत्ति थी और न उनका उन्होंने कभी परित्याग ही किया। फिर भी जैसी साधनाएँ उनके लिए केवल सहायक साधन मात्र थी और इन सभी के प्रयोगों का लक्ष्य वह आध्यात्मिक जीवन ही था जिसकी उपलब्धि को वे प्रायः 'जीवन्मुक्त' का अनुभव कहा करते थे। उनका यह जीवन साधारण समाज के बाहर बने रहकर कालयापन करना नहीं था और न इसमें किसी प्रकार की अलौकिकता का ही आना अनिवार्य था। उपर्युक्त दृष्टिकोण को स्थिर किये रहने पर अपनी प्रत्येक दैनिक चेष्टा के रूप में कायापलट लाया जा सकता था और इसी प्रकार किसी असाधारण से असाधारण स्थिति के भी आ जाने पर अपने को भली भाँति सँभाल लिया जा सकता था। इस दृष्टिकोण के कारण ही उन्होंने संपूर्ण जीवन को एक और अखंड ठहराया था और उसके प्रत्येक पहलू की ओर समुचित ध्यान देना अपना कर्त्तव्य समझा था। उनके लिए जीवन में न तो किसी आर्थिक वा सामाजिक आधार पर भेदभाव का लाना आवाश्यक था और न उनके सामने किन्हीं सामाजिक स्तरों की कल्पना का ही कोई मूल्य था।

इस प्रकार, संतों के सारे उपदेशों का निचोड़ निम्नलिखित पाँच वाक्यों द्वारा संक्षेपतः प्रकट किया जा सकता है—

(१) विश्व का मूल परमतत्व एक और अद्वितीय है तथा प्रत्येक व्यक्ति उससे तत्वतः अभिन्न है;

(२) उक्त अभिन्नता की अनुभूति अथवा इस प्रकार की स्वानुभूति, पर ही आदर्श आध्यात्मिक जीवन का निर्माण किया जा सकता है;

(३) आध्यात्मिक जीवन की सिद्धि के लिए अपना सर्वांग विकास अपेक्षित है और इसमें सहायक होने वाली कोई भी साधना अभिनंदनीय है;

(४) परंतु प्रत्येक दशा में अपनी अनुभूति, अभिव्यक्ति एवं आचरण में पूर्ण सामंजस्य का बना रहना भी अनिवार्य है; और

(५) इस प्रकार की व्यक्तिगत साधना द्वारा ही क्रमशः आदर्श मानव-समाज का निर्माण किया जा सकता है जिससे अंत में विश्व कल्याण भी संभव है। अथवा इसकी सफलता के आधार पर हों यदि चाहें तो भूतल को स्वर्ग के रूप में भी परिणत कर सकते हैं।

संतों की इन स्वीकृतियों में से प्रथम ने जहाँ साम्यभाव अथवा विश्व बंधुत्व के आदर्श का मूल उत्स प्रतिष्ठित किया वहाँ उनकी दूसरी मान्यता ने प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान स्वावलम्बन के महत्व की ओर भी दिलाया। इसी प्रकार उनकी तीसरी धारणा के अनुसार हमारे दैनिक जीवन के प्रत्येक व्यापार का समुचित मूल्यांकन आवश्यक समझा गया और चौथी के द्वारा हमें स्वयं व्यक्तिगत जीवन के ही वास्तविक विकास की सच्ची कसौटी मिल गई। इन चारों दृष्टियों के अनुसार जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति स्वभावतः उस आदर्श मानव समाज के अंग हो जाते थे जो उनकी पाँचवीं आस्था का आधार था।

भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण से परमात्मतत्व के प्रति अद्वैत भावना कोई नवीन बात नहीं था। प्राचीन काल से ही उपनिषदों द्वारा इसके सिद्धांत का प्रतिपादन होता आया था और इस देश के अनेक दार्शनिकों और विचारकों ने भी उसकी व्यख्या की थी। संत परंपरा का प्रारंभ होने के लगभग छः सौ वर्ष पहले स्वामी शंकराचार्य ने इसका निरूपण केवलाद्वैत की धारणा के अनुसार बहुत ही स्पष्ट शब्दों में किया और प्राचीन काल के ग्रंथों में उपलब्ध इस विषय के महकाव्यों में पूरी संगति बिठाते हुए, 'ब्रह्मसत्यं' के साथ-साथ 'जगन्मिथ्या' का भी समर्थन किया। स्वामी शंकराचार्य के अनुकरण में अन्य अनेक आचार्यों ने भी इस प्रश्न पर गंभीर विचार किया और भारतीय दार्शनिक विचारधारा में अद्वैतवाद को बहुत पीछे तक महत्व मिलता आया। परंतु इस प्रकार के तत्वचिंतन में शास्त्रीय पद्धति की प्रधानता अक्षुण्ण रूप से बनी रही

और इसमें निरत महापुरुष एक विशिष्ट कोटि के व्यक्ति समझे जाते रहे उनका प्रमुख उद्देश्य अपने दार्शनिक जिज्ञासा की पूर्ति एवं धर्म ग्रंथों के विविध मतवादों में एकरूपता और पूर्ण सामंजस्य का स्थापित करना मात्र था। इसके सिवाय उस विचारधारा का एक परिणाम यह भी हो सकता था कि ऐसे चिंतनशील व्यक्ति अपने कोरे दार्शनिक प्रयासों के फल को ही अपने जीवन का अंतिम लक्ष्य भी मान बैठे और उसकी उपलब्धि से पूर्ण संतुष्ट होकर अपने समाज के निरे निष्क्रिय अंग ही बने रह जाँय व्यक्तिगत मोक्ष इस प्रकार के चिंतन एवं मनन का एक मात्र ध्येय बन गया था और 'ऐहिक' तथा 'आमुष्मिक' स्थितियों के बीच अत्यंय चौड़ी खाई की कल्पना कर ली गई थी। फलतः जहाँ ऐसे साधक की मनोवृत्ति अधिकतर आत्मकेंद्रित बनती जा रही थी वहाँ भारतीय संस्कृति की 'वसुधैव कुटुंबकम्' वाली भावना भी लुप्त हो रहा थी।

संत परंपरा के लोगों ने अपने अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने के लिए कभी किसी प्राचीन ग्रंथ के वाक्यों का आश्रय लेना आवश्यक नहीं समझा। उन्हें अपने अर्द्धशिक्षित रहने के कारण किन्हीं शास्त्रीय सिद्धांतों के बीच कभी सुसंगति बिठाने का भी प्रयास करना नहीं पड़ा उनकी अद्वैत भावना का मूलस्रोत सत्संग एवं स्वानुभव में निहित था जिस कारण वह केवल कोरी मस्तिष्क की उपज मात्र न रहकर, उनके प्रत्यक्ष जीवन में भी अपना स्थान बना लेती थी। उसका रूप विविध तर्कों द्वारा अर्जित किये गये किसी 'दार्शनिक' ज्ञान के सदृश न था, प्रत्युत उनके हृदयों में जमे हुए धार्मिक विश्वास जैसा होता था। उसे वे न केवल किसी न किसी साधना द्वारा सदा एक रूप बनाये रखने में लगे रहते थे अपितु वे उसे अपने दैनिक जीवन के प्रत्येक व्यापार में बराबर घटाते भी रहा करते थे जिस कारण उसे साधारण 'आत्मज्ञान' की संज्ञा न देकर 'स्वानुभूति' कहना ही अधिक उचित होगा। इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों का लक्ष्य भव बंधनों से मुक्ति पा लेना था, किंतु एक में जहाँ वह योग द्वारा शरीर त्याग करने पर मिलती थी वहाँ दूसरी दशा में

वह जीवन काल में भी संभव थी। उसकी उपलब्धि के लिए कहीं किसी अन्य लोक में जाने की कल्पना भी आवश्यक न थी उसका आनंद जीते जी और यहीं रह कर भी उठाया जा सकता था। अतएव दार्शनिक साधक को जहाँ संत लोग उसे अपने 'सुरति-शब्द-योग' के द्वारा सदा अपने प्रत्यक्ष अनुभव में रखना चाहते थे जिससे उसकी दशा में क्षण मात्र का भी परिवर्तन न होने पाये और वह अपने लौकिक व्यवहारों तक एक समान बनी रहे।

इस प्रकार की अद्वैतभावना के ही आधार पर कबीर साहब ने हिन्दू धर्म की व्यवस्था तथा उसके कारण उत्पन्न भेदभाव को अस्वाभाविक ठहराया था। उनका कहना था कि जब एक ही मूल से सब किसी की उत्पत्ति है और उस ज्योति की कल्पना सर्वत्र एक समान की जाती है तो फिर ब्राह्मण एवं शुद्र का पृथक् होना कहाँ सिद्ध है? हिंदुओं ने न केवल इस प्रत्यक्ष एवं सीधी-सादी बात को भुला दिया है प्रत्युत इसके विपरीत छुआछूत संबंधी एवं विचित्र धारणा भी उन्होंने बना ली है। कबीर साहब ने हिंदुओं की ऐसी मान्यताओं के खुले शब्दों में आलोचना की है और उन्हें अपनी भूल पर एक बार फिर विचार करने का उपदेश भी दिया है। इस समाजिक भेदभाव के ही समान उन्होंने हिंदुओं तथा मुसलमानों के बीच दीख पड़ने वाले धार्मिक भेदभाव को भी हेय माना है। अपनी अद्वैत भावना के अनुसार वे यहाँ भी 'दुई जगदीश कहाँ ते आया', जैसे प्रश्न छेड़ देते हैं तथा 'राम रहीम करीमा केसव' की एकता एवं अभिन्नता का प्रतिपादन करने लग जाते हैं। उनका यहाँ पर भी कहना है कि जब सभी मानवों की उत्पत्ति एक समान होती है और कोई भी किसी धर्म विशेष के चिह्न लेकर नहीं जन्म लेते तो वे भिन्न-भिन्न कैसे हुए? इसी प्रकार वे इस भावना के अनिवार्य परिणाम को केवल मानव समाज तक ही सीमित न रखकर उसे पशुबध की हिंसा वृत्ति विषयक मूल तक ले जाते हैं और उसके आगे 'पाती पाती जीव' की घोषणा करते हुए मालिन को किसी मूर्ति पर चढ़ाने के लिए पत्र पुष्पादि तोड़ने से भी विरत करना

चाहते हैं। कबीर साहब तथा उन्हीं की भाँति अन्य संतों की भी दृष्टि में सारा विश्व तत्वतः एक और आत्मस्वरूप है और तदनुसार किन्हीं भी दो प्राणियों के बीच कृत्रिम भेदभाव की कल्पना करना अथवा किसी भी एक के प्रति हमारा दुर्भाव रखना नितांत अस्वाभाविक माना जा सकता है।

संतों ने एक ओर जहाँ भारतीय अद्वैतवाद के आधार पर उक्त प्रकार से एक सच्चे तथा स्वाभाविक साम्यवाद का प्रचार किया वहाँ दूसरी ओर इन्होंने इसके द्वारा यह भी संकेत कर दिया कि हमारे ध्येय सदा अपने सिद्धांत एवं आचरण के बीच पूरी संगति बिठाये रखने का ही होना चाहिए। हमारा जीवन अपने आदर्श के उतना ही अधिक निकट समझा जा सकता है और हम उसमें उतने ही सफल भी कहे जा सकते हैं जितना अधिक सामंजस्य हमारी 'कथनी' एवं 'करनी' में पाया जाता है और इसके अभाव का परिणाम कभी श्रेयस्कर नहीं होता। इसकी ओर पूरा ध्यान न दे सकने के कारण हम अपने समाज में किसी छली अथवा प्रपंची जैसा व्यवहार करने लग जाते हैं। अपनी धार्मिक साधनाओं के अवसरों पर कोरे ढोंग एवं बाह्याचार के फेर में पड़कर उनके वास्तविक लाभ से हाथ धो बैठते हैं और अपने व्यक्तिगत जीवन के विकास में कभी एक पग तक आगे नहीं बढ़ पाते। संतों ने इस विषय में हिंदुओं के लब्ध प्रतिष्ठ पंडितों और श्रद्धाभाजन योगियों तपस्वियों तथा संन्यासियों एवं मुसलमानों के पथ प्रदर्शक शेख़ों और मुल्लाओं को अपनी फटकारों का विशेष लक्ष्य बनाया क्योंकि ये ही लोग अपने-अपने धार्मिक समाजों के अगुए और आदर्श माने जाते थे। कबीर साहब ने यहाँ तक बतलाया कि ऐसे लोग धर्मग्रंथों के आप्त वाक्यों पर स्वयं पूरा विचार तक नहीं कर लेते और अपने स्वार्थवश उनके मनमाने अर्थ लगाकर बहुधा ऐसा काम कर डालते हैं जिनके कारण उन पुस्तकों के प्रति दूसरों की अश्रद्धा बढ़ जाती है। 'वेद' एवं कुरान के विषय में सहसा यह कह देना कि उनकी बातें झूठी हैं, कदापि उचित नहीं है। उनका इस प्रकार झूठी कहलाना

प्रायः इस बात पर आश्रित रहता है कि वे भली भाँति समझ नहीं ली जाती और न उन पर कभी पूरा अमल किया जाता है।[1] संतों ने ऐसी बातों को बार बार दुहराया और उन्हें कार्यान्वित करके भी दिखलाया।

संतों का जितना आग्रह किसी बात को अपने निजी अनुभव में लाकर उसे स्वयं परख लेने का था उतना उसके केवल 'आप्तवाक्य' होने के ही कारण उसका सहसा अनुसरण भी करने का नहीं था और इसी कारण वे धर्मग्रंथों पर एकांत निर्भर रहने का घोर विरोध किया करते थे। वे विचार-स्वातंत्र्य में पूरी आस्था रखते थे और इस दृष्टि से वे दोनों धर्मों की चिर प्रचलित प्रथाओं के पूर्ववत् कायम रहने के भी विरोधी थे। अंधविश्वास एवं रूढ़िवाादिता हमारी चिंतनधारा की स्वाभाविक प्रगति में प्रायः बाधक सिद्ध होती है और इन दोनों के कारण हमारे विकास में बहुत बड़ी रुकावटें आ सकती हैं। 'आप्तवाक्यों' का अंधानुसरण करते समय हमारा जितना ध्यान उनमें निहित सत्य की ओर नहीं जाता उतना उनके अक्षरों पर आश्रित शब्दार्थों में ही उलझा रह जाता है और ऐसे समय हम बहुधा यह भी भूल जाते हैं कि अमुक शब्द का प्रयोग वहाँ पर किस युग एवं परिस्थिति विशेष में किया गया होगा तथा ऐसा करते समय उसके मूल प्रयोक्ता का वास्तविक उद्देश्य क्या रहा होगा और फिर आज भी यदि उसका वही अर्थ लें तो वह कहाँ तक समीचीन ठहर सकता है। इसी प्रकार हम किसी परंपरागत प्रथा का निर्वाह करते समय भी कभी यह विचार नहीं कर लेते कि उसकी उपयोगिता आज भी पूर्ववत् बनी रह गई है वा नहीं। हिंदुओं तथा मुसलमानों के धार्मिक समाजों में जो वेशभूषा और त्योहारों के ढङ्ग सदियों से प्रचलित हैं उनके वास्तविक मूल्य की कोई खोज नहीं करता। वे केवल इसी आधार पर अपना लिये जाते हैं कि ऐसा बहुत दिनों से होता चला आया है और उनके परित्याग से अपनी रूढ़िवादिता पर आघात पहुँचाता है।

---

[1] 'बेद कतेब कहहु मत झूठे, जो न बिचारै", आदि ग्रंथ

संतों ने ऐसी बातों की ओर उक्त दोनों धर्मों के अनुयायियों का ध्यान आकृष्ट किया और इसके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित कर मूल सत्य को अपनाने के लिए उनसे साग्रह अनुरोध भी किया।

संतों ने 'सत्य के पूर्ण रूप' को स्वीकार किया था जिस कारण जगत् की विभिन्न अनेकताओं में भी उन्हें सदा एकता का ही भास होता रहता था। फलतः जिस प्रकार उन्होंने 'दर्शन' की दृष्टि से अद्वैतवाद में आस्था रखी थी, 'धर्म' के अनुसार विविध प्रचलित संप्रदायों में समन्वय लाने की चेष्टा की थी। मानव समाज के अंतर्गत किसी भी प्रकार के बाह्य भेदभाव का आना असह्य माना करते थे उसी प्रकार अपने व्यक्ति जीवन की साधना को भी वे 'सर्वांङ्गीण' कहा करते थे। उनके अनुसार हमारे जीवन में कोई आर्थिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक वा अन्य किसी प्रकार के पृथक् विभाग नहीं कर सकते और न हमारी किसी क्षुद्रातिक्षुद्र चेष्टा का भी अपने जीवन के आध्यात्मिक रूप से भिन्न अस्तित्व में आना कभी कोई मूल्य रख सकता है। 'ब्रह्मचर्य' एवं 'अपरिग्रह' पर आवश्यकता से अधिक बल दिये जाने के कारण भारतीय समाज पर निवृत्ति मार्गियों का प्रभाव क्रमशः बढ़ता आया था और स्वामी शंकराचार्य के मायावाद ने सारे जगत् को ही मिथ्या ठहरा कर मानव जीवन की नीरसता तथा किसी अभीष्ट कैवल्यपद के परमानंद का चित्रण उसके सामने बड़े गहरे रंगों में कर दिया था। संतों ने इसका प्रभाव दूर करने के लिए कोरे निवृत्ति मार्ग एवं कोरे प्रवृत्ति मार्ग को केवल एकांगी और एक पक्षीय ठहराया और मध्यम मार्ग अपना कर विवेक के साथ समझ-बूझ कर हंसवत् चलने का उपदेश दिया। इस प्रकार संतों के आदर्श व्यक्तिगत जीवन में एक ओर जहाँ साधारण कोटि के व्यक्तियों की सादगी थी वहाँ महान् विचारकों का गंभीर चिंतन भी था और उसी के अनुसार एक ओर जहाँ अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए पर्याप्त अवसर उपलब्ध था वहाँ विश्व के कल्याण की दृष्टि से अथक प्रयत्न भी किया जा सकता था।

संतों के विषय में कभी-कभी पूछ दिया जाता है कि उन्होंने हमारे लिए क्या किया और इसके साथ संसार की वर्तमान त्रुटियों की ओर ध्यान भी दिलाया जाता है। प्रश्न यह है कि यदि वास्तव में इन संतों ने हमारी दुरवस्था को पहचान पाया था और उसके सुधारों के लिए उचित परामर्श दिया था तो क्या कारण है कि आज तक उनके बहुमूल्य उपदेशों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और सारी सांसारिक बुराइयाँ जहाँ की तहाँ बनी रह गईं ? और, यदि इन सतों के प्रयत्नों द्वारा विश्व को कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं पहुँच सका तो फिर इन्होंने हमारे सांस्कृतिक विकास में ही कौन सा सहयोग प्रदान किया होगा ? यह प्रश्न अत्यत स्वाभाविक है और यह वस्तुतः इन संतों के कार्यों की परख के साथ-साथ इनकी अंतिम देन की जिज्ञासा भी जाग्रत करता है। इस प्रश्न का रूप ऐसा है जो इन संतों के अतिरिक्त विश्व के अन्य अनेक महापुरुषों, मनीषियों, धर्माचार्यों एवं सुधारकों के विषय में भो लगभग एक ही प्रकार लागू हो सकता है। क्या कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसामसीह, जरथुस्त्र, मुहम्मद, कनफ्यूशियस आदि महान् व्यक्तियों तथा उनके प्रसिद्ध अनुयायियों ने भी हमारे लिए कुछ किया है ? इनमें से किसी को भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि उन्होंने विश्व के लिए कुछ न कुछ ठोस कार्य कर जाने के प्रयत्न नहीं किये। उन्होंने अपना सारा जीवन विश्व कल्याण की दृष्टि से अनवरत कार्य करते रहने में ही व्यतीत किया और अंत में वे कुछ ऐसे संदेश भी दे गये जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। परंतु क्या कारण है कि विश्व की प्रगति प्रत्यक्षतः अपने निजी ढंग से ही होती चली आ रही है और कभी कोई इसमें उनका आभार नहीं स्वीकार करता ? फिर इसमें कौन सा रहस्य निहित है कि उक्त सभी महान् व्यक्तियों का प्रभाव उनके प्रादुर्भाव के पीछे केवल कुछ समय तक ही स्पष्ट दीख पडा ? उनके अनुयायियों की संख्या में प्रायः वृद्धि होती रहने पर भी उनके वास्तविक सदेशों के महत्त्व में क्रमशः कमी आती गई और वे उपेक्षणीय तक बन गये ?

यह प्रश्न साधारण प्रश्नों जैसा नहीं है और इसकी अपूर्व गंभीरता इसकी कतिपय विशेषताओं पर निर्भर है जिन पर ध्यान दे लेना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रश्न का संबंध संपूर्ण विश्व से है जिसके विषय में अंतिम ज्ञान का दावा करना कभी युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। इस संबंध में अभी तक जो कुछ परिणाम निकाले जा सके हैं वे अधिकतर तर्क, प्रयोग एवं अनुमान जैसे साधनों पर ही आश्रित हैं जिनकी पहुँच स्वभावतः सीमित हो सकती है। इसके सिवाय यदि विश्व को सदा प्रगतिशील मान कर चला जाय तो इसके समझ पाने में एक दूसरी कठिनाई का भी सामना करना पड़ जाता है। निरंतर परिवर्तनशील वस्तु के किस रूप विशेष को ध्यान में रखकर उस पर विचार किया जाय? विश्व के विकास का नियम विभिन्न परिस्थितियों में भी अंतर ला सकता है जिस कारण ऐसे विश्वजनीय प्रश्नों पर सोचते समय भी युग विशेष के वातावरण का प्रभाव पड़ना अनिवार्य सा है। अतएव जिन-जिन महा-पुरुषों ने इस प्रश्न पर आज तक पूरी गंभीरता के साथ मनन करने का प्रयत्न किया उन्हें सदा अपनी इन सीमाओं के ही भीतर काम करना पड़ा। उनके चिंतन एवं कार्यक्रम की पद्धति सदा अपनी परिस्थितियों से ही प्रेरणा पाती रही और उनके द्वारा उपलब्ध परिणाम भी स्वभावतः इनके ही अनुकूल निकलता आया। प्राचीन विचारकों का ध्यान कभी किसी विश्वनियंता की ओर जाता था, कभी वे किसी सार्वभौम नियम की कल्पना करते थे, कभी किसी अद्वितीय तथा निरपेक्ष तत्त्व के अस्तित्व का अनुमान करते थे तो कभी सारे जगत् के आपसे आप उत्पन्न होने एवं विकास पाने के विषय में तर्क किया करते थे। फलतः विश्व संबंधी दोषों की त्रुटियों को दूर करने तथा सबको सुखी एवं संपन्न बनाने के प्रश्न पर उनके विचार करने के ढंग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। वे सभी किसी न किसी आदर्श विश्व की कल्पना करते और तदनुकूल सुधार एवं परिवर्तन लाने का परामर्श और उपदेश दिया करते। ऐसी दशा में किसी एक सार्वजनीन एवं सर्वसुलभ उपाय के द्वारा विश्व की सारी कमियों की

दुःख-सुख से प्रतीत होने लगते हैं और सब किसी के साथ उसका भाव पूर्ति का सफल प्रयत्न करना कोई सरल काम नहीं था। आदर्श विश्व की कल्पना करते समय यदि उनका ध्यान प्रधानतः इस प्रश्न के उस पार्श्व की ओर चला जाता जहाँ उसे 'सामूहिक' वा समष्टि की दृष्टि से देखना चाहिए तो उक्त कमियों के प्रमुख कारणों पर विचार करते समय वे इस बात को भी नहीं भूल पाते थे कि वह समष्टि भी वस्तुतः अनेक व्यक्तियों का ही समाहार है। आदर्श मानव समाज का स्वप्न देखते समय वे प्रायः व्यक्ति के महत्व को भूल जाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण का दम भरते समय सदा समाज पर दृष्टि नहीं रख पाते। जिन महापुरुषों ने इन दोनों को समुचित महत्त्व प्रदान कर पर्याप्त उदारता एवं व्यावहारिकता से काम लिया उनका ही प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक स्थायी रहा।

संतों के कार्य पर इस विचार से दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि, विश्व कल्याण संबंधी प्रश्न को करते समय उन्होंने उक्त दोनों का ध्यान रखा। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्माता का उपदेश देते समय उन्होंने यही कहा कि वे विश्वात्मक परमात्मतत्त्व के साथ अपनी अभिन्नता का विचार कभी न छोड़ें। संतों के अनुसार किसी आदर्श व्यक्ति की प्रत्येक चेष्टा, इस दशा में, उस तत्त्व की अनुभूति के रंग में स्वभावतः रँगी रहेगी और इस कारण उसका कोई भी कार्य ऐसा नहीं हो सकता जो बाह्यतः व्यक्तिगत सा दीखता हुआ भी, तत्त्वतः उक्त प्रकार के सामूहिक कल्याण के विपरीत पड़ता हो। वास्तव में ऐसे व्यक्ति के भीतर किसी ऐसी शांति का समावेश हो जाता है[१] जिसके कारण उसके सारे

[१] **अब हम सकल कुसल करि मांनां, स्वांति भई तब गोव्यंद जांनां ॥टेक॥**
तन मैं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि ॥
जमके उलटि भया है राम, दुख बिसरया सुख किया विश्राम ॥
वैरी उलटि भये हैं मीता साषत उलटि सजन भये चीता ॥ इत्यादि
'कबीर ग्रंथावली', पद १९, पृ० ९२

निर्वैरिता का हो जाता है, यहाँ तक कि उसे अपनी मृत्यु तक का भय नहीं रह जाता और उसका प्रत्येक कार्य सुखपूर्वक एवं अनायास होने लग जाता है। संतों ने इस आदर्श दशा को प्राप्त करने के लिए किसी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं बतलायी है और न इसके लिए किसी काल्पनिक "धाम" की ही ओर संकेत किया है। इसकी उपलब्धि के लिए पहले किसी आदर्श विश्व अथवा आदर्श समाज का निर्मित हो जाना भी अनिवार्य नहीं। व्यक्तिगत रूप से यह जिस किसी को भी चाहे वह जिस किसी भी समाज का सदस्य हो, संभव है, आवश्यकता केवल उसके जीवन में कायापलट आने तथा उसके स्थायी बने रहने भर की है। प्रत्येक व्यक्ति की सफलता अपने निजी प्रयत्नों पर ही निर्भर है। जिस कारण संतों के अनुसार, आदर्श विश्व का निर्माण किसी संगठन की अपेक्षा नहीं करता। संतों ने हमारे लिए क्या किया, का प्रश्नकर्ता यदि उनके द्वारा प्रतिष्ठित किसी ऐसी स्वयं सेवकों की टोली की खोज में हो जो सबको बिना बुलाये सजग और सचेत करती फिरती हो अथवा यदि वह उनके द्वारा सुरक्षित किसी ऐसी जड़ी-बूटी का पता लगाना चाहता हो जो घर बैठे सभी प्रकार के दुःखों को दूर कर सकती हो तो इन दोनों ही दशाओं में उसे किसी प्रकार का संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया जा सकता। संतों ने ऐसी कोई भी पकी-पकायी सामग्री नहीं छोड़ी। उन्होंने विश्व के उस राजरोग को पहचानने की चेष्टा की जिस कारण वह निरंतर दुःख झेला करता है और उसका सावधानी के साथ निदान किया। वे उसकी दवा का गुण स्वयं अपने ऊपर उसका प्रयोग करके भी सिद्ध कर गये तथा उसके समुचित अनुपानों की ओर भी संकेत कर गये। हमने न उनपर श्रद्धा की और न अपने ऊपर ही पूरा विश्वास किया प्रत्युत सारे झमेलों से अलग बने रहकर केवल इतना ही जानना चाहा कि किस किसने अपना दायित्व कहाँ तक निभाया तथा क्या किसी अन्य की कृपा से भी कोई ऐसा उपाय हाथ लग सकता है जिससे सबका कल्याण हो सके ?

RAMAKRISHNA MISSION LIBRARY
MUTHIGANJ ALLAHABAD

संतों ने जिस अपनी धारणा के आधार पर विश्व के प्राणियों में सुख एवं शांति की प्रतिष्ठा करने का सुझाव दिया था वह भारतीय विचार-धारा से बहुत भिन्न नहीं थी और इस विषय की बहुत सी बातें प्रायः एक ही समान तर्क संमत भी कही जा सकती थीं। संतों की विशेषता केवल इस बात में पायी गयी कि उन्होंने ऐसी मान्यताओं को शास्त्रानुमोदित मात्र न मान कर इन्हें अपने अनुभवों की कसौटी पर भी कस कर सिद्ध कर दिया और इस प्रकार ये केवल कतिपय उच्चवर्ग में लोगों की ही वस्तु न रह कर सर्वसाधारण तक के लिए सुलभ हो गई। संत लोग स्वयं अधिक शिक्षित नहीं रहते थे और साधारण कोटि के समाज में प्रायः पाले-पोसे गये होने के कारण वे साधनहीन भी थे। परंतु जिन प्रश्नों का समाधान करने का उन्होंने प्रयत्न किया वे सर्वथा मौलिक होने के कारण अत्यंत सरल और स्वाभाविक भी थे। संतों ने उन्हें अपने सहज-भाव के साथ समझा और उन्हें उसी प्रकार दूसरों को समझाने की भी चेष्टा की। फलतः जो बातें कभी वैदिक साहित्य अथवा प्राचीन संस्कृत के ग्रंथों में आने के कारण पहले बहुत गूढ़ और अपरिचित जान पड़ती थीं वे ही इनकी बानियों में बोधगम्य बन गयीं। उनके प्रति सर्वसाधारण की उत्सुकता बढ़ने लगी और धीरे-धीरे जनभाषा में भी एक ऐसे संत साहित्य का निर्माण हो गया जो अपने विषय की गंभीरता में किसी से कम न था। जो प्रश्न कभी केवल पंडितों एवं विद्वानों के ही लिए उपयुक्त समझे जाते थे और जिन्हें शुद्ध शास्त्रोय मात्र समझा जाता था वे इन संतों के प्रयत्नों द्वारा सर्वसाधारण जनता के भी सामने आने लगे और इनका समावेश लोक साहित्य तक में किया जाने लगा।

इस प्रकार संतों ने भारतीय संस्कृति के विकास में अनेक प्रकार के सहयोग प्रदान किया। भारतीयों के गूढ़ दार्शनिक सिद्धांत अद्वैतवाद को उन्होंने सर्वसाधारण के जीवन तक में घटा कर उसकी वास्तविक उप-योगिता सिद्ध कर दी। केवल इसी के आधार पर धर्म एवं संप्रदायगत भेदभाव के साथ-साथ वर्ण एवं जातिगत विषमताओं की भी निःसारता

को प्रमाणित कर दिखाया। संतों की इस धारणा के प्रचार का एक परिणाम यह भी हुआ कि जो विश्व बंधुत्व पहले किसी स्वप्नलोक की बात समझा जाता था उसे युक्तिसंगत आधार मिल गया और प्रत्येक भारतीय को अपने विषय में आत्मगौरव का अनुभव करने का अवसर मिल गया। इसके सिवाय इन संतों की ही कड़ी आलोचनाओं के कारण हमारा ध्यान एक बार अपनी उस दृष्टि की ओर भी गया जिसके कारण हम अपनी 'कथनी' एवं 'करनी' में सामंजस्य रखने का सदुपयोग नहीं जानते थे और हमारा जीवन ढोंगों से भर गया था। संतों ने इस महान् दोष की ओर संकेत करके हमें अपनी कई प्रथाओं को सुधारने में भी सहायता प्रदान की और इस प्रकार हमारे जीवन में अधिक शुद्धता, सत्यता एवं सुव्यवस्था को लाने का भी सुअवसर मिल गया। संतों ने अपने सभी कार्य साधारण समाज में रह कर और साधारण लोकभाषा के ही माध्यम से किया जो स्वयं भी उनकी एक बहुत बड़ी देन थी।

हिंदी संत साहित्य

साधारण तौर पर प्रयोग में आने वाले 'संत' शब्द का अभिप्राय किसी भी ऐसे महापुरुष से हो सकता है जिसे हम दूसरे शब्दों में साधु, सज्जन, सदाचारी, भक्त अथवा महात्मा कहा करते हैं। किंतु संत-साहित्य में प्रयुक्त 'संत' शब्द का अर्थ उससे कुछ भिन्न समझा जाता है। यहाँ पर 'संत' शब्द का व्यवहार केवल उन्हीं महान व्यक्तियों के लिए किया जाता है जो उक्त गुणों से संपन्न होते हुए अपने कतिपय विशेष विचारों और साधनाओं के कारण एक विशेष परपरा के अनुयायी भी माने जाते रहे हैं। यह परंपरा स्पष्ट और विशद् रूप से प्रसिद्ध कबीर साहब के काल से आरंभ हुई थी और तब से समयानुसार केवल थोड़े से परिवर्तनों के साथ आज तक निरंतर चली आ रही है। इसके अनुयायी अधिकतर 'निर्गुण पंथी' वा 'निर्गुनिए' भी कहे जाते हैं। ये निजी अनुभव को ही साधना में सबसे अधिक महत्व देते हैं। सादगी, सदाचार, त्याग, निर्भीकता, हृदय की सचाई और विश्व प्रेम के ही बराबर उपदेश दिया करते हैं और नामस्मरण में अबाध रूप से लगे रहने पर भी अनासक्ति के साथ अपने आवश्यक लौकिक कार्यों के करने से मुँह नहीं मोड़ते। समाज में इनका मुख्य उद्देश्य आदर्श एवं व्यवहार का सामंजस्य रखते हुए उसकी भलाई करना है। इन्हें हर प्रकार के आडंबर और विडंबनाओं से सख्त परहेज है। संत साहित्य का शब्द भी, काव्य शास्त्र संबंधी छंद अलंकार, रीति, रस वा गुण दोषों के ग्रंथों का ही केवल परिचायक न होकर, संत परंपरा के अनुयायियों द्वारा निर्मित की गई समस्त रचनाओं के समूह के लिए ही व्यवहृत हुआ है। संत साहित्य की रचनाओं में विशेष रूप से सिद्धांत एवं साधनाओं का निरूपण तथा प्रतिपादन मात्र आने के कारण उसमें विषय वा भाव

का ही प्राधान्य रहा है। भाषा को गौण मान उसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। इसी कारण संतों की रचनाओं में अनेक स्थलों पर व्याकरण, पिंगल आदि की अशुद्धियाँ अथवा शैली की शिथिलता का का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

हिंदी का संत साहित्य अभी अधिकतर अप्रकाशित और हस्तलिखित ही पड़ा हुआ है और इसके कदाचित् कुछ थोड़े से ही अंश द्वारा सर्व-साधारण परिचित हैं। इसके जानकारों के अनुसार इसका कलेवर बहुत विशाल है। हिंदी भाषा में इस विशेष साहित्य की रचना का सूत्रपात एक प्रकार से उसी समय हो चुका था जब वह स्वयं अपने बाल्यकाल में थी; बल्कि इसके मूल बीज का पता हमें कुछ न कुछ उस समय भी लगने लगता है, जब वह अभी अपभ्रंश के गर्भ में अव्यक्त रूप से वर्तमान थी। संत साहित्य को इस दृष्टि से हम हिंदी साहित्य का प्राचीनतम वा आदिकालीन अंश भी कह सकते हैं। तब से अर्थात् विक्रम की सातवीं शताब्दी के लगभग से ही कतिपय क्षीण स्रोतों से मिल कर निकली हुई संत साहित्य की धारा मार्ग में आ पड़ने वाले विभिन्न प्रवाहों द्वारा प्रभा-वित और पुष्ट होती हुई पंद्रहवीं शताब्दी से एक स्पष्ट रूप धारण कर लेती है और तभी से उसे एक विशिष्ट नाम देना आरंभ करते हैं। संत-साहित्य का जीवन काल तो दीर्घ है ही, भाषा से सुपरिचित प्रायः प्रत्येक प्रांत के निवासियों से इसका घनिष्ठ संबंध होने के कारण, इसके क्षेत्र का विस्तार भी कम नहीं है। इसके रचयिताओं में यदि दक्षिण के महाराष्ट्रीय संत नामदेव हैं तो उत्तर के पंजाबी गुरु नानक देव भी हैं और उसी प्रकार इसके अंतर्गत पच्छिम काठियावाड़ के निवासी प्राण-नाथ की रचनाएँ संमिलित हैं तो दूसरी ओर पूर्व के बिहार प्रांत वाले दरिया साहब के ग्रंथों को भी उसी प्रकार स्थान मिला है। इतने बड़े इस भूखंड के निवासियों के अंतर्गत अनेक छोटी-बड़ी जातियाँ है और भिन्न-भिन्न प्रांतों की भिन्न भिन्न बोलियाँ भी हैं जिन्हें हिन्दी भाषा के भीतर समाविष्ट किया जाता है। संत साहित्य के निर्माताओं में उक्त दोनों

प्रकार की विभिन्न प्रकार की जातियों के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। इसमें आने वाली रचनाओं में उक्त बोलियों के न्यूनाधिक उदाहरण भी मिलते हैं। इस प्रकार देश, जाति एवं बोलियों की दृष्टि से भी इस साहित्य की विशालता स्वयं सिद्ध है।

हिंदी संत साहित्य के जिन मूल स्रोतों की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उनमें योगाचार, तंत्रशास्त्र, हठयोग, वाममार्ग आदि संबंधी प्रचलित सिद्धांतों एवं साधनाओं पर आश्रित सहजयानी बौद्ध सिद्धों के दोहे और चर्यागीतिकाएँ भी आती हैं। इन रचनाओं के साथ हिंदी के संत साहित्य का मिलान करने पर स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धों की सांप्रदायिक स्वीकृतियों के अतिरिक्त प्रायः सभी बातें केवल शब्दों के रूपांतर मात्र के साथ ज्यों की त्यों दोनों में आ जाती हैं। प्रायः वैसे ही विषय, वैसी ही उक्तियाँ, वैसी ही फटकारें और वैसी ही चेतावनियाँ हैं तथा एक ही समान प्रेरणाओं द्वारा प्रेरित हो कठोर उद्गारों के रूप में प्रकट की गई हैं। आगे आने वाले सेश्वरवादी नाथ पंथियों की रचनाओं में स्वभावतः कुछ और भी अधिक समानता दिखने लगती है और वारकरी संप्रदाय के निर्गुणपंथी महाराष्ट्रीय संतों के हिंदी पदों को देखकर यह स्पष्ट धारणा हो जाती है कि उन रचनाओं के अंतर्गत संत साहित्य का विकसित रूप भी कुछ अंशों तक वर्तमान है। कबीर साहब के समय तक संत साहित्य की रचनाओं पर जैन साधना, इस्लाम धर्म के सूफ़ीवाद तथा रामावत संप्रदाय के भक्तिवाद का भी पूर्ण प्रभाव पड़ चुका था। यदि उसमें किसी बात की कमी रह गई भी तो वह भी केवल उसमें आने वाली ईसाई मत की कतिपय स्थूल बातें तथा योग एवं वेदांत दर्शन के कुछ विचार या साधना पद्धतियाँ थीं जो आगे आने वाले संतों की शिक्षा-दीक्षा, सत्संग तथा अन्य परिस्थितियों के कारण उनकी कृतियों में समाविष्ट हो गईं। आगे आने वाले संतों में से कई एक का झुकाव कुछ सीमा तक सगुणवाद की ओर भी हो चला था जिसके कारण इधर के संत साहित्य में कुछ विषमता के चिह्न आ गये हैं।

हिंदी संत साहित्य के निर्माताओं में कुछ ऐसी उत्कृष्ट और अलौकिक विभूतियों का आविर्भाव हुआ है जिनके जोड़ के महापुरुषों का अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध करना कठिन है। आदर्श और व्यवहार का सामंजस्य संतमत की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण विशेषता है और इसी कारण, हमारे सभी संतों की कथनी एवं रहनी अथवा करनी की पूर्ण एकरूपता पर विशेष जोर दिया है, तथा इसी कारण उसे स्वयं अपने व्यक्तिगत जीवन के अंतर्गत कार्य में परिणत करके भी दिखला दिया है। खेद है कि हमारे संतों की प्रामाणिक जीवनियों से पूर्ण सामग्री नहीं मिलती और जो कुछ इतिवृत्त उनके विषय में उपलब्ध है, उनका अधिक अंश चमत्कार भरी कहानियों से ही भरा पड़ा है। फिर भी जो कुछ बातें हमारे सामने आज तक आ सकी हैं, उनके अनुसार कम से कम एक मोटे तौर पर ही क्यों न हो, हम उनके विषय में अपनी धारणा कुछ निश्चित कर लेते हैं और इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उन संतों का जीवन भी वैसा ही उच्च और उज्वल अवश्य रहा होगा, जैसा कि उनकी रचना में आये हुए विचारों द्वारा लक्षित होता है।

उदाहरण के लिए कबीर साहब की रचनाओं में जो तन्मयता, आत्मनिर्भरता, निर्भीकता तथा स्पष्टवादिता के भाव प्रकट होते हैं, उन्हें हम उनकी उपलब्ध जीवनियों द्वारा भी प्रमाणित कर सकते हैं और भली भाँति देख सकते हैं कि उनके कथन एवं कार्य में किस प्रकार समानता थी। उन्होंने अपने निजी अनुभवों द्वारा प्राप्त सत्य के आलोक में ही अपना सारा जीवन व्यतीत किया और जब तक जीवित रहे एक सच्चे जीवन्मुक्त के रूप में समाज के भीतर कर्तव्यों का पालन करते रहे और वैसे ही जीवन यापन के वे उपदेश भी देते रहे। उसी प्रकार संत रैदास की निस्पृहता, गुरु नानक देव की आत्म विस्मृति, दादू दयाल की भावुकता प्राणनाथ की प्रेमरूपता, मलूकदास की मस्ती, तुलसी साहब की तर्कपटुता, स्वामी शिवदयाल की रहस्यवादिता तथा चरणदास के

शुद्ध भक्ति भाव, पलटू साहब का आत्मनिवेदन एवं परमहंस शिवनरायण के सदाचार के नमूने हमें उनकी रहनी और रचनाओं में एक ही प्रकार व्यवहृत वा उद्धत समझ पड़ते हैं। इन संतों को व्यर्थ के प्रपंचों में पड़कर समय व्यतीत करने तथा समाज एवं अपने को भी धोखा देने के प्रति बड़ी घृणा थी। ये आध्यात्मिक साधना में निरता रहना, आत्मोन्नति का अनुभव करना तथा सर्वत्र ओतप्रोत किसी व्यापक अलौकिक वा अनिर्वचनीय शक्ति की उपलब्धि द्वारा अपने भीतर और बाहर सब कहीं एकरस पूर्ण आनंद में मग्न रहना तो अपना ध्येय मानते ही थे, इसके कारण इन्हें समाज के बीच कर्त्तव्यपालन में कभी बाधा नहीं दीख पड़ी। ये अपनी आध्यात्मिक साधना द्वारा अपने को संसार के सुधार वा कायापलट के लिए शिक्षित करते थे और इसी कारण, इन्होंने मरणोपरांत सुख वा आनंद-प्राप्ति की अपेक्षा वर्तमान जीवन में ही रहकर उसके अनुभव का आदर्श सामने रखा। संसार की वास्तविकता को समझते हुए भी उन्होंने उससे अलग भाग खड़ा होना कभी नहीं चाहा।

हिंदी साहित्य के अंतर्गत, संत साहित्य के अतिरिक्त, रीति शास्त्र, भक्ति भाव, प्रेमगाथा, वीरोल्लास आदि कई प्रकार के आधारों पर की गयी रचनाओं का समावेश हैं। इनमें से कम से कम रीतिशास्त्र और वीरोल्लास संबंधी प्रायः सारे ग्रंथ, साहित्यनिरूपण अथवा किसी व्यक्ति, वंश, वा जाति की प्रशंसा के उद्देश्य से ही, निर्मित किये गये मिलते हैं। इसीलिए उन में या तो विषयों की निर्धारित सीमा अथवा वर्ण्य से अधिक वर्णन, शैली की ओर ही ध्यान देने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। इसके विपरीत प्रेमगाथा एवं भक्ति भाव संबंधी साहित्य में या तो किन्हीं सरल सुबोध कहानियों द्वारा गूढ़ प्रेम के रहस्यों का उद्घाटन मिलता है अथवा राम, कृष्ण वा अन्य उपास्य देवों की गुणावली वा चरितावली के वर्णनों द्वारा व्यक्त की गई भक्ति भावना का प्रदर्शन मात्र मिलता है। इस प्रकार ऐसी रचनाओं में मोटे तौर पर देखने से

विषय-प्रतिपादन, गुणानुवाद, आत्मनिवेदन वा मनोरंजन के सिवाय और कुछ भी नहीं दीख पड़ता है। इनकी सीमाएँ एक प्रकार से व्यक्ति वा विषय विशेष तक ही संकुचित समझी जा सकती है। इनमें आदर्श मानवीय जीवन एवं विश्व कल्याण के उद्देश्य की प्रेरणा द्वारा प्रस्तुत की गई रचनाओं का समुचित समावेश नहीं पाया जाता। वीरोल्लास वाले ग्रंथों में आध्यात्मिकता का अभाव है। रीतिशास्त्र वाली रचनाओं के उदाहरणों में आदर्श वा अलौकिक व्यक्तियों को भी नीचे स्तर की साधारण श्रेणियों में लाकर उनके साथ खिलवाड़ सा कर दिया गया है। प्रेमगाथा की कहानियों में, अधिकतर शृंगार संबंधी भावों के अति प्रबल वा विकृत रूपों के प्रदर्शन द्वारा, ग्रंथों का मूल उद्देश्य कहीं-कहीं लुप्त-सा हो गया है। इसी प्रकार, भक्ति भाव द्वारा अनुप्राणित पदों वा प्रबंध काव्यों का भी अधिकांश भक्तों की स्वर्ग विषयक व्यक्तिगत आकांक्षाओं की ही पूर्ति करता जान पड़ता है।

संत साहित्य का निर्माण एक विशेष उद्देश्य को लेकर तथा एक विशेष आदर्श को सामने रख कर किया गया है। प्रतिदिन अनुभव में आने वाली वस्तुओं एवं व्यवहारों की वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट हो उनकी वास्तविकता का स्थान उपलब्ध करना ही उसके निर्माताओं का उद्देश्य रहा और समुचित आवश्यक साधनों द्वारा उससे पूर्ण परिचित हो, उसके अनुसार इन्होंने अपना जीवन संबंधी दृष्टिकोण स्थिर किया। वस्तुस्थिति की सच्ची परख होते ही इन्हें एकमात्र नित्य एवं शाश्वत सत्य की अनुभूति हुई जिस कारण इनके जीवन संबंधी सिद्धांतों में आमूल परिवर्तन हो गया और सारी बातें विशेष रूप एवं रंग में दीख पड़ने लगीं। संतों ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत आनेवाली आध्यात्मिक, धार्मिक, व्यक्तिगत एवं सामाजिक प्रायः सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान, उसी निश्चित किये गये दृष्टिकोण के अनुसार ही करने की चेष्टा की है। उक्त नित्य सत्य के साथ स्वभावतः एकात्मता स्थापित करने के कारण इनका आदर्श भी अत्यंत उच्च एवं व्यापक बन गया है।

फिर तो परिणामस्वरूप सारा समाज इनका अपना हो गया है। सभी प्राणी आत्मीयों की भाँति समझ पड़ने लगे हैं और सारे प्रचलित धर्मों के आधारभूत नियम इनके सिद्धांतों की पुष्टि करने लगे हैं। संतों ने किसी भी धर्म के मौलिक नियमों की अवहेलना नहीं की है, बल्कि उसके अनुयायियों को उन्हें भली-भाँति समझने का अनुरोध किया है।

यह सच है कि संत साहित्य के प्रारंभिक रचयिताओं ने जितना प्रयास आध्यात्मिक रहस्यों की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए किया है, उतना भिन्न-भिन्न सामाजिक समस्याओं की उलझनों को सुलझाने की ओर नहीं किया है और इस दृष्टि से इनका कार्य कुछ अधूरा-सा रह जाता है। किंतु साथ ही इस बात को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि इनके अनुसार, सर्वप्रथम, वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त करना तदनुसार अपने मान्य नियमों को निर्धारित कर लेना ही परम श्रेयस्कर है। यदि इसमें सलफता हो गई तो सारी अन्य बातें सहज एवं स्वयं-सिद्ध बन जाती हैं। संतों के अनुसार सत्य का वास्तविक ज्ञान तभी हो सकता है जब जिज्ञासु के व्यक्तिगत अनुभव में वह पूर्ण रूप से व्याप्त हो जाय, जब प्रत्येक वस्तु वा दैनिक व्यवहार हमें उसी के द्वारा प्रभावित जान पड़े और हमारा सारा जीवन उसी के साथ एकरस वा एकाकार हो जाय। इस प्रकार देखने पर इनकी आध्यात्मिक अनुभूति का स्थान व्यवहार की रहनी वा करनी से अधिक महत्वपूर्ण होकर कहीं उच्च ठरहता है और शुद्ध सामाजिक जीवन का वास्तविक मूलस्त्रोत उसी में अंतर्हित है। इस तथ्य को न जानकर उसकी उपेक्षा करने से ही सभी प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है। अतएव इन्होंने सर्वसाधारण की दृष्टि उसी ओर फेरने की चेष्टा बहुत अधिक की है और सामाजिक बातों की ओर जो उसके ठीक हो जाने पर आपसे आप सुधर सकती हैं, उतना ध्यान नहीं दिया है। संत साहित्य में मुख्यतया उसके निर्माताओं के निजी अनुभव उसकी उपलब्धि की साधना तथा उससे होने वाले परिणामों का ही वर्णन है।

संत साहित्य और जैन हिंदी कवि

जैनागमों एवं बौद्धपिटकों द्वारा अनुप्राणित श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से मूलतः कई बातों में भिन्न कही जा सकती है। वैदिक आर्यों की मनोवृत्ति जितनी दार्शनिक थी उतनी वह नैतिकता की ओर उन्मुख न थी। उपनिषदों में विशेषतः किसी नित्य शुद्ध चैतन्य के दर्शन वा ज्ञान को प्रधानता दी गई थी और उनमें निर्दिष्ट मोक्ष का रूप भी बहुत कुछ अस्पष्ट सा प्रतीत होता था। इसके विपरीत श्रमण परंपरा वाले गौतम बुद्ध का तत्वज्ञान बुद्धिवाद पर आश्रित रहा तथा उनका लक्ष्य दुख से परम निवृत्ति का था और इसी प्रकार, तीर्थंकर महावीर भी प्रधानतः इंद्रिय वृत्तियों के पूर्ण अनुशासन तथा मौलिक मानवीय शक्तियों के पूर्ण विकास का ही आदर्श रखते थे। इन दोनों महापुरुषों का ध्यान शुष्क आत्मदर्शन की अपेक्षा 'निर्वाण' अथवा 'अर्हत्' की स्थिति उपलब्ध करने की ही ओर अधिक रहा। वैदिक आर्यों ने अपने ऐहिक अथवा आमुष्मिक हित के भी लिए यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठित होना परमावश्यक माना था जहाँ, बौद्ध एवं जैन स्वीकृतियों के अनुसार उन्हें अनावश्यक ठहराया गया और उनके लिए विहित हिंसा को सर्वथा हेय भी बतलाया गया। इसके सिवाय वैदिक आर्यों ने जहाँ, वेदों को अपौरुषेय मानते हुए, उनके प्रमाण तथा ब्राह्मण वर्ग के पौरोहित्य पर अपने धार्मिक जीवन को आश्रित रखा था वहाँ, श्रमण संस्कृति के समर्थकों ने उन्हें अस्वीकार करते हुए इसके निमित्त आत्मनिर्भरता को ही अधिक प्रश्रय दिया। इन्हें किसी ईश्वर जैसे जगत के निर्माता और नियामक में भी कभी विश्वास नहीं रहा जिस कारण ये लोग बहुधा निरीश्वरवादी कहला कर भी प्रसिद्ध हुए।

श्रमण संस्कृति के समर्थकों की निरीश्वरवादिता वस्तुतः उनके कर्मवाद

MUTHIGANJ ALLAHABAD

में निभ्रांत आस्था रखने के कारण थी। वे कर्मों के परिणामस्वरूप होते रहने वाले जन्मांतर में भी, वैदिक संस्कृति वालों से कहीं अधिक विश्वास रखते थे। फिर भी इन दोनों ही वर्गों के लोग सांसारिक जीवन के प्रपंचों से निवृत्ति पाने के भी इच्छुक थे। गौतम बुद्ध जहाँ प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक एवं अनात्म मानकर चलते थे और वैदिक आर्यों को जहाँ दृश्यमान जगत की पृष्ठभूमि के रूप में, अनेक में एक होकर विद्यमान किसी सत्ता में भी विश्वास था वहाँ तीर्थंकर महावीर को जगत की क्षणिकता एवं आत्मतत्व को एक साथ स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति न थी, उन्हें केवल आत्मतत्व का एकांतिक रूप मात्र ही स्वीकार नहीं था। इस कारण, उपनिषदों में जहाँ जगत् को उसके अनित्य होने के ही कारण, दुखमय कहा गया था और इसीलिए आत्मतत्व जैसी नित्य वस्तु के प्रति आग्रह भी था और गौतम बुद्ध जहाँ, उसी कारण उसका सर्वथा निवृत्त हो जाना तक श्रेयस्कर समझते थे वहाँ तीर्थंकर महावीर ने न तो उपनिषदों जैसी आत्मतत्व की एकांतिकता को अपनाया और न बुद्ध जैसा पूर्ण निवृत्ति पर बल देना ही उचित समझा। इनके लिए जगत की परिवर्तनशीलता और आत्मतत्व की नित्यता दोनों ही मान्य थी और तदनुसार, इनका मोक्ष भी पूर्ण निवृत्ति के रूप में न होकर मनोविकारों से मुक्ति स्वरूप था।[1] मोक्ष को उपलब्ध करने की शक्ति बीज रूप में सब किसी के अंतर्गत निसर्गतः विद्यमान है, किंतु वह सदा जाग्रत नहीं की जाती। उसके द्वारा अर्हत की स्थिति प्राप्त कर जीव सिद्ध एवं सर्वज्ञ हो जाता है जो वैदिक परंपरानुसार केवल ईश्वरत्व की दशा में ही संभव है।

जैन धर्म आचरण प्रधान है और उसमें आध्यात्मिक जीवन को सर्वाधिक महत्व दिया जाता आया है। जैनाचार को भी समस्त क्रियाओं का मूलाधार अहिंसा में निहित है जिस कारण इसे वहाँ के 'अणुव्रत' में सर्व-

---

[1] डा० नथमल टाटिया 'स्टडीज़ इन जैन फिलासफी, पृ० १८

प्रथम स्थान प्राप्त है। अहिंसा का सत्य के साथ घनिष्ठ संबंध है और इसमें स्वभावतः ब्रह्मचर्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह का भी समावेश हो जाता है। योगसाधना के लिए विहित 'यम' के अंतर्गत भी अहिंसा की ही गणना सबसे पहले की जाती है और सत्य, आदि के नाम इसके पीछे लिये जाते हैं। जैन धर्म ने अहिंसा, तप एवं संयम का होना मानवीय शक्तियों के समुचित विकास के लिए अनिवार्य ठहराया है और इसके विपरीत आचरण को हेय मानकर उसे कभी न अपनाने का उपदेश भी दिया है। तप के द्वारा बाह्य एवं आभ्यंतरिक दोनों ही प्रकार का संशोधन हो जाता है जिससे संयम के अनुसार आध्यात्मिक विशुद्धि प्राप्त करने में किसी प्रकार की बाधा का अनुभव नहीं होता। हमें क्रमशः अहिंसा की वह आदर्श स्थिति भी उपलब्ध हो जाती है जिसके बल पर विश्व की समस्याओं का हल किया जाना संभव है। अतएव, जैन साहित्य में भी हमें इसी प्रकार की आत्मसाधना तथा आचरणशीलता को विशेष महत्व दिया गया मिलता है और वहाँ यज्ञादि के अनुष्ठान, तीर्थ यात्रा, भेष धारण, प्रतिमा पूजन जैसे बाह्य साधनों को निरुत्साहित किया गया है। उसमें इस भावधारा की अभिव्यक्ति का माध्यम भी ऐसी ही भाषा को बनाया गया है जो सर्वजन सुलभ हो।

जैन कवियों ने अपनी कृतियों को जन जीवन के अति निकट लाने के प्रयत्न में उनकी रचनाशैली को सरल एवं सरस कर दिया है। उनमें उक्त प्रकार के आध्यात्मिक जीवन का ही आदर्श प्रतिपादित किया गया मिलता है, किंतु उसका उपदेश एक ऐसे ढंग से दिया गया रहता है जिसका गहरा प्रभाव बिना पड़े नहीं रह सकता और हम उस पर गंभीरता के साथ विचार करने लग जाते हैं। इन कवियों की प्रबंधमयी रचनाओं में प्रधानतः ऐसे पात्रों को ही स्थान दिया गया है जो सर्वसाधारण के भी लिए परिचित हों और सर्वत्र केवल ऐसे ही प्रतीक एवं उपमानादि के प्रयोग हुए हैं जो सब किसी के दैनिक जीवन में उपलब्ध हो सकते हों। इनके अनेक उदाहरण हमें जैन मुनियों की उन रचनाओं में भी

मिलते हैं जो अपभ्रंश भाषा के मुक्तकों में लिखी गई हैं। अपभ्रंश भाषा में इस प्रकार के मुक्तकों की रचना बौद्ध सिद्धों ने भी की है और उनके कुछ ऐसे पद्य संग्रह दोहा कोशों एवं चर्यापदों के रूप में उपलब्ध हैं। किंतु उन सिद्धों की कृतियों में अधिकतर तांत्रिक साधनाओं का भी उल्लेख रहा करता है और वे इसी कारण, रहस्यमयी भी बन जाया करती है। उनमें बहुधा किसी ऐसी मनःस्थिति की ओर संकेत किया गया मिलता है जिसकी प्रतिकृति पूर्णतः उभर नहीं पाती। कभी-कभी तो हम उनके शब्दों की पारिभाषिकता की ही उलझन में पड़ जाते हैं, कभी उनके प्रतीकों के मूलस्रोत ढूँढ़ने लगते हैं और कई बार उनके कारण, ऐसी भुलभुलैया का भी शिकार बन जाते हैं जिससे निकल जाना महा कठिन जान पड़ता है। उनमें अभिव्यक्त जीवन का रूप भी जितना व्यक्तिगत और साधनात्मक है उतना नैतिक और व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता।

जैन मुनियों की ऐसी कृतियाँ उनसे कहीं अधिक स्पष्ट और वस्तुसगत हैं और हिंदी के संत कवि संभवतः इन्हीं से अधिक प्रभावित हैं। जहाँ तक बाह्य आडंबर, अनावश्यक प्रपंच आदि की आलोचना का प्रश्न है इन तीनों वर्गों के कवि एक समान उद्‌गार प्रकट करते हैं। इन तीनों का लक्ष्य ऊपरी साधनाओं की व्यर्थता एवं कृत्रिम जीवन की परिहार्यता सिद्ध करना रहता है और ये तीनों प्रायः एक ही प्रकार की तीखी चुभती, व्यंगमयी कथनशैली का न्यूनाधिक प्रयोग भी किया करते हैं, किंतु बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में जहाँ किसी आदर्श स्थिति का केवल स्वप्निल एवं वायवीय आभास मात्र ही मिल पाता है वहाँ जैन मुनि एवं संत ठोस जीवन का चित्र भी रखते दीखते हैं। हिंदी के संत कवियों ने बौद्ध सिद्धों की शब्दावली को अवश्य अपनाया है और ये कुछ न कुछ उनकी भाव-धारा से भी प्रभावित हैं, किंतु ऐसी बातें इन्हें, कदाचित्, नाथपंथी कवियों द्वारा ही उपलब्ध हुई हैं जो स्वभावतः इनके अधिक सजातीय भी कहे जा सकते हैं। नाथ पंथी कवि भी, संतक वियों की ही भाँति

किसी अनिर्वचनीय परमतत्व में आस्था रखते हैं और वे योगसाधना को भी महत्व देते हैं। उनकी रचनाओं में हमें जैन मुनियों की तपोनिष्ठा का महत्व भी प्रतिपादित किया गया दीख पड़ता है। किंतु उनमें जैन मुनियों अथवा संतों की भाँति नैतिक जीवन की ओर उतना ध्यान दिया गया नहीं जान पड़ता। हमें उनमें उस भक्ति भाव तथा प्रेम साधना का भी कोई संकेत नहीं मिलता जिस कारण संतों की गणना कभी-कभी भक्त कवियों में भी कर दी जाती है।

संतों के साहित्य में हमें बौद्ध सिद्धों की अटपटी बानियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं और इसमें उनके पारिभाषिक शब्दों की भी कमी नहीं। इसमें नाथपंथियों के साध्य शिवतत्व तथा उसके लिए किसी न किसी यौगिक साधना के उल्लेख भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार इसके अंतर्गत हमें वैष्णवों का भक्ति भाव एवं सूफ़ियों की जैसी प्रेम की पीर भी लक्षित होती है। किंतु इस साहित्य की जो सबसे बड़ी देन है और जो इसमें चित्रित आध्यात्मिक जीवन एवं नैतिक व्यवहारपरक उपदेशों के रूप में उपलब्ध है वह उनमें से किसी के भी अनुरूप नहीं। उसका आदर्श यदि कहीं मिल सकता है तो वह केवल जैनमुनियों की ही वाणी में अन्वेषणीय है। ये लोग स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "देव न तो देवालय में है न पाषाण में है, न लेप में है न चित्र में है, वह अक्षय निरंजन और ज्ञानमय शिव समचित्त वा समभाव वाले के मन में ही निवास करता है।"[1] "हे योगी, अपना मन निर्मल कर लेने पर ही शांत शिव के दर्शन होते हैं और वह घन रहित आकाश में सूर्य की भाँति

---

[1] देउ ण देउले णवि सिल ए, णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ, सिव संठिउ सम चित्ति ॥१२३॥

परमात्म प्रकाश, पृ० १२४

प्रकाशमान होता है।"[१] अतएव, "जिसका मन जीते जी पंचेंद्रियों के साथ मर गया उसे ही मुक्त मानना उचित है, उसी ने निर्वाण पथ को पाया है।"[२] तथा "रागद्वेष का परित्याग करके जो सभी प्राणियों को एक समान जानता है और इस प्रकार समभाव में प्रतिष्ठित है वह शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है।"[३] आत्मज्ञानी वही है जो चाहे कोई किसी का मित्र हो अथवा शत्रु हो सबके साथ सभी जीवों को एक मानने की दृष्टि से व्यवहार करता है।[४] कबीर साहब आदि संत कवियों के भी कथन का यही सारांश है और इसी के आधार पर सारे नैतिक आचरण की मूलभित्ति खड़ी है। इन जोइंदु, मुनिराम सिंह जैसे जैन मुनियों की रचनाओं में संत साहित्य की अन्य अनेक गौण बातें भी पायी जाती हैं और इनकी सीधी परंपरा हिंदी के उन जैन कवियों में भी लक्षित होती है जो विक्रम की १६वीं से लेकर उसकी १६वीं शताब्दी तक बराबर कविता करते आए हैं।

---

[१] जोइय णिय मणि णिम्मलए, पर दीसइ सिउ संतु।
अंबरि णिम्मलि घण-रहिए, भाणु जि जेम फुरंतु ॥११६॥
परमात्म प्रकाश, पृ० १२०

[२] असु जीवंतहं मणु मुवउ, पंचेंदियहं समाणु।
सो जाणिज्जइ मोक्कलउ, लद्धउ पहु णिव्वाणु ॥१२३॥
पाहुड़ दोहा, पृ० ३६

[३] राअ दोष वे परिहरिवि, जे सम जीव णियंति।
ते समभाव परिट्ठिया, लहु णिव्वाणु लहंति ॥१००॥
परमात्म प्रकाश, पृ० २४२

[४] संतु वि मित्तु वि अप्पु परु, जीव असेसु वि एइ।
एक्कु करे विणु जो मुणइ, सो अप्पा जाणेइ ॥१०४॥
वही, पृ० २४६

वास्तव में १६ वीं से १६ वीं तक की विक्रम शताब्दी का समय विभिन्न सुधार आंदोलनों का युग था। इसके पहले से ही भक्ति आंदोलनों का सूत्रपात हो चुका था और एक नवीन इस्लामी संस्कृति के संघर्ष में आ जाने के कारण, सभी भारतीय धर्मों के अनुयायी सजग होने लगे थे। यों तो उन दिनों योरप के भी कई देशों में इस प्रकार के आंदोलनों की कमी नहीं थी, किंतु भारतवर्ष में ऐसी जागृति अधिक व्यापक बनकर दीख पड़ी। हिंदू धर्म के अंतर्गत जहाँ वैष्णव संप्रदाय ने विशेष बल पकड़ा वहाँ इस्लाम के सूफ़ी संप्रदाय का भी इस समय बहुत अधिक प्रचार हुआ। ये दोनों ही संप्रदाय अपने-अपने मूलधर्मों के भीतर किसी न किसी प्रकार के सुधारों के पक्षपाती थे। इसी प्रकार हिंदू धर्म के शैव संप्रदाय ने भी इस युग में वैसी ही प्रवृत्ति प्रदर्शित की और जैन धर्म के अनुयायियों में से भी कई ने सुधार परक संप्रदाय स्थापित किये। उदाहरण के लिए कबीर साहब के प्रायः समसामयिक लोंकाशाह ने सं० १५०६ में गुजरात के अंतर्गत मूर्ति पूजन के विरुद्ध अपने उपदेश आरंभ किये, सं० १६५७ के लगभग मध्य भारत में तारण स्वामी ने दिगंबर संप्रदाय के अनुयायियों में अपना 'तारण पंथ' चलाया। इसी प्रकार सं० १७१० में श्वेतांबर संप्रदाय वालों का भी एक वैसा ही ढूंढिया वा स्थानकवासी नामक साधुमार्ग प्रतिष्ठित हुआ। इसके सिवाय प्रसिद्ध विद्वान जैन कवि बनारसी दास सं० १६४३—१७०० ने उत्तर प्रदेश में इसके पहले से ही 'तेरापंथ' संज्ञक एक सुधार परक आंदोलन का प्रचार आरंभ कर दिया था। फलतः जैन मुनियों को ऐसे वातावरण में और भी अधिक प्रोत्साहन मिला और उनकी रचनाओं में संत साहित्य संबंधी अनेक बातों के उदाहरण प्रचुर मात्रा में दीख पड़ने लगे। इनमें न केवल उसके साथ वर्ण्य विषय का ही साम्य लक्षित हुआ अपितु भाषा एवं वर्णन शैली तक में भी अपूर्व सादृश्य पाया गया।

जैन कवि बनारसी दास काव्य रचना में स्वयं अत्यंत निपुण थे और उनकी भावाभिव्यक्ति एवं शब्दयोजना दोनों ही सर्वथा प्रशंसनीय

हैं। वे अपने समकालीन संत कवि सुंदरदास की भाँति गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक विषयों को भी अपनी रचनाओं में बड़ी सफलतापूर्वक प्रकट कर देते थे। उन्हें अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार था और वे काव्य-शास्त्र के नियमों से भी पूर्ण परिचित थे। उनकी उपलब्ध कृतियों में अनेक ऐसे स्थल आते हैं जहाँ की शब्दावली एवं मुहावरे तक कबीर साहब जैसे संत कवियों की रचनाओं में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए वे कहते हैं—

चेतन तूं तिहुं काल अकेला,
नदी नाव संजोग मिलै ज्यों, त्यों कुटंब का मेला ॥ टेक ॥
यह संसार असार रूप सब, ज्यों यह पेखन खेला।
सुख संपति शरीर जल बुद बुद, बिनसत नाहीं बेला ॥

× × ×

कहत बनारसि मिथ्या मत तज, होय सुगुरु का चेला।
तास वचन परतीत आन जिय, होइ सहज सुरझेला ॥ २ ॥[1]

और यहाँ पर संत साहित्य की वर्णन शैली से कोई अंतर नहीं दीख पड़ता। इसी प्रकार वे फिर अन्यत्र भी कहते हैं—

भोंदू भाई समुझ शबद यह मेरा,
जो तूं देखैं इन आंखिन सों, तामें कछू न तेरा ॥ टेक ॥
ए आंखे भ्रमही सौं उपजी, भ्रमही के रस पागी।
जहं जहं भ्रम तहं तहं इनकौ श्रम, तूं इन ही को रागी ॥
तेरे दृग मुद्रित घट अन्तर, अन्धरूप तूं डोलै।
कै तो सहज खुलै वे आंखे; कै गुरु सङ्गति खोलै ॥८॥[2]

तथा,

---

[1]बनारसी विलास, जयपुर सं० २०११, पृ० २२३

[2]वही, पृ० २३४-५

वादिन को कर सोच जिय, मन में ॥ टेक ॥
बनज किया व्यापारी तूने, टांडा लादी भारी रे ।
ओछी पूंजी जूआ खेला, आखिर बाजी हारी रे ॥

× × ×

कहत बनारसि सुनि भवि प्राणी, यह पद है निरवाना रे ।
जीवन मरन कियो सो नाहीं, सरपर काल निशाना रे ॥ इ० ॥[1]

इसी प्रकार कवि बनारसी दास ने अपनी एक रचना 'अध्यात्म गीत' के अंतर्गत दांपत्यभाव के अनुसार वर्णन किया है जिसमें कबीर साहब की भावधारा के साथ ही साथ उनकी शब्दावली तक से विचित्र सादृश्य दीख पड़ता है उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं ।

मेरा मन का प्यारा जो मिलै, मेरा सहज सनेही जो मिलै ॥टेक॥

× × ×

मैं विरहिन पिय के अधीन, यों तलफों ज्यों जल बिन मीन ॥३॥
बाहिर देखूं तो पिय दूर, घट देखे घट में भरपूर ॥४॥
घट माहिं गुप्त रहै निराधार । बचन अगोचर मन के पार ॥५॥
अलख अमूरति वर्ण न कोय, कबधों पिय को दर्शन होय ॥६॥
सुगम सुपंथ निकट है ठौर, अंतर आड विरह की बौर ॥७॥
जउ देखौं पिय की उनहार, तनमन सर्वस डारों वार ॥८॥
होहुं मगन मैं दरसन पाय, ज्यों दरिया में बूंद समाय ॥९॥
पिय को मिलौं अपनपो खोय । ओला गलि पानी ज्यों होय ॥१०॥
मैं जग ढूंढ फिरी सब ठौर, पिय के पटतर रूप न और ॥११॥
पिय जग नायक पिय जग सार, पिय की महिमा अगम अपार ॥१२॥
बसौं सदा मैं पिय के गाउं, पिय तज और कहां मैं जाउं ॥१७॥

× × ×

---

[1] प्रो० राजकुमार जैन, अध्यात्म पदावली, काशी, सन् १९५४ ई०, पृ० २०३-५

पिय मोरे घट, मैं पिय माहिं । जल तरंग ज्यों द्विविधा नाहिं ॥१९॥[1]
जहाँ जान पड़ता है कि ये जैसे कबीर साहब के 'राम' वा 'साहब' के ही संबंध में अपना विरहभाव प्रकट कर रहे हों जो वस्तुतः सही नहीं है। इसके सिवाय इन्होंने अपनी एक रचना 'पहेली' में भी जो 'सुमति' एवं 'कुमति' नामक दो पत्नियों का वर्णन रूपक द्वारा किया है वह बहुत कुछ संतमत का ही भाव लिए हुए है और उसको भी शब्दावली पर संत साहित्य की छाप लगी है। ये वहाँ उन दोनों की तुलना के साथ आरंभ करते हैं और उन दोनों में एक संक्षिप्त वार्तालाप करा कर उसके अंत में, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

हिय आंगन में प्रेम तरु, सुरति डार गुण पात।
मगन रूप ह्वै लहलहै, बिना द्वन्द दुख बात ॥१०॥[2]

कवि बनारसीदास ने अपनी उपर्युक्त रचना 'अध्यातम गीत' की ही दूसरी पंक्ति में लिखा है।

अवधि अयोध्या आतम राम। सीता सुमति करे परणाम ॥[3]
और उन्होंने अन्यत्र, अपने एक पूरे पद में ही 'रामायण' की कथा के युद्ध प्रसंग का रूपक बाँध कर विवेकशील पुरुषों के भीतर प्रायः जागृत होते रहने वाले अंतर्द्वंद्व का बड़ा सजीव चित्रण किया है। वे उस पद को

विराजै रामायण घट माहिं।
मरमी होय मरम सो जाने, मूरख मानै नाहिं ॥टेक॥

से आरंभ करते हैं तथा राम-रावण युद्ध वाले प्रमुख पात्रों के नाम लेते हुए उनके लिए भिन्न-भिन्न उपमानों की सृष्टि करते हैं और, इसी ढंग से उसकी अन्य प्रासंगिक बातों का भी उल्लेख करते हैं। इस पद में भी 'आतम' ही राम है और 'सुमति' ही सीता है। किंतु यहाँ पर 'विवेक' के

---

[1]बनारसी विलास, पृ० १५९-१६२
[2]वही, पृ० १८०-१ [3]वही, पृ० १५९

रणक्षेत्र में संग्राम के छिड़ने, 'धारणा' की आग में 'मिथ्यामति' की लंका के भस्म होने, 'अज्ञान' विषयक राक्षस कुल के भी नष्ट हो जाने, 'दुराशा' की मंदोदरी के मूर्छित हो पड़ने तथा इसी प्रकार 'राग' एवं 'द्वेष' नामक दोनों सेनापतियों के जूझने एवं 'संशय' गढ़ के विध्वस्त हो जाने का भी सांगरूपक द्वारा वर्णन किया गया है। अंत में कहा गया है,

इह विधि सकल साधु घट अंतर, होय सहज संग्राम।
यह विवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम ॥८॥[1]

जिससे स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य यहाँ पर केवल शुद्ध नैतिक समस्या के ही रूप का अंकन करना रहा होगा।

परंतु इनसे प्रायः दो सौ वर्ष पीछे अपने 'घट रामायन' ग्रंथ की रचना करने वाले हाथरस के संत तुलसी साहब ने पूरी 'रामायण' की कथा का रूपक एक दूसरे प्रकार से ही बाँधा है। इनके उसी ग्रंथ से पता चलता है कि ये अपने को प्रसिद्ध गो० तुलसीदास से अभिन्न समझते थे और इनका कहना था कि मैंने उस रूप में जिस रामायण, 'राम चरित मानस' की रचना की थी उसका मर्म और ही है। 'मानस' में जिस कथा का वर्णन किया गया है वह, इनके अनुसार, केवल एक रूपक मात्र है। जिसका स्पष्टीकरण ये, 'घट रामायण' द्वारा करते हैं। ये वहाँ पर कहते हैं,

घट में सुरति सैल जस कीन्हा। कागभुसुंड भाखि तस दीन्हा॥
काग भुसुंड कितहुं नहिं भयऊ। तुलसी सुरति सैल तन कहेऊ॥
काग भुसुंड काया के मांही। राम रमा मुख पैठा जाई॥
तुलसी ताकी गति मति जानी। रामायन में कीन्ह बखानी॥

× × ×

सरजू सुरति अवध दस द्वारा। ये घट भीतर देखि निहारा॥
रावन कुंभ लंकपति राई। त्रिकुटी ब्रह्म बसै तेहि मांही॥

---

[1] बनारसी विलास, पृ० २३३

रावन ब्रह्म कहा हम जोई। त्रिकुटी लंक ब्रह्म है सोई॥
मंदोदरी भभीषन भाई। इंद्रजीत सुत त्रिकुटी मांही॥

× × ×

रावन राम सकल परिवारा। ये घट भीतर चुनि चुनि मारा॥[१]

जिससे पता चलता है कि ये किसी राजयोग जैसी साधना की चर्चा कर रहे हैं। इनके यहाँ 'रामायण' के कई पात्र केवल 'मन' के ही विविध रूप दर्शाते हैं। अतएव, 'घट रामायन' में जहाँ रामायण की कथा 'सुरति सैल' के आधार पर बतलायी गयी है, वहाँ बनारसीदास के पद में वह 'विवहार दृष्टि' से ही आती है।

बनारसीदास के समकालीन एक जैनकवि पंडित रूपचंद भी थे जिन्हें वे गुरुवत् मानते थे और बहुत बड़ा विद्वान भी समझते थे। रूपचंद की एक रचना 'परमार्थी दोहा शतक' नाम से प्रसिद्ध है जिसके कई दोहे जैन मुनियों की रचनाओं का अनुसरण करते हैं और जिन्हें हम संतों की पंक्तियों के भी सर्वथा अनुकूल भाव व्यक्त करते हुए पाते हैं। उदाहरण के लिए उनके दो दोहे इस प्रकार हैं,

चेतन चित परिचय बिना, जपतप सबै निरत्थ।
कन बिन तुस जिमि फटकते, आवै कछू न हत्थ॥
भ्रमतै भूल्यौ अपनपौ, खोजत किन घट माहि।
बिसरी वस्तु न कर चढ़ै, जो देखै घर माहिं॥[२]

बनारसीदास के अनंतर विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में भी अनेक ऐसे जैन कवि हुए जिनकी रचनाओं में इस प्रकार की बातें मिलती है। भैया भगवती दास का रचना-काल सं० १७३१ से सं० १७५५ तक माना

---

[१] घट रामायन, पृ० ४२-३ एवं २१४-५

[२] कामता प्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १०७

जाता है। ये भी एक उच्च कोटि के प्रतिभाशाली कवि थे। इनकी रचनाओं में 'आतम' रस चाख्यौ मैं अद्भुत, पायो परमदयाल',[1] तथा 'चेतहु चेत सुनहु रे भैया, आप ही आप संभारो'[2] जैसी अनेक पंक्तियाँ पायी जाती हैं। इनके समकालीन भूधरदास की पंक्तियाँ इनसे और भी अधिक स्पष्ट है और इनकी वर्णनशैली भी बहुत कुछ कबीर साहब का अनुसरण करती हैं। इनकी ऐसी रचनाओं की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,

भगवंत भजन क्यों भूला रे ॥टेक॥
यह संसार रैन का सुपना, तन धन वारि बबूला रे ॥१॥
इस जीवन का कौन भरोसा, पावक में तृण पूला रे।
काल कुदार लिये सिर ठाड़ा, क्या समझै मन फूला रे ॥२॥[3]

और,

अंतर उज्वल करना रे भाई!
कपट कृपान तजै नहिं तबलौं, करनी काज न सरना रे।
बाहिर भेष क्रिया उर शुचि सौं, कीये पार उतरना रे।
नाहीं है सब लोक रंजना, ऐसे वेदन वरना रे॥
कामादिक मल सौं मन मैला, भजन किये क्या तिरना रे।
'भूधर' नील बसन पर कैसे, केसर रंग उछरना रे॥[4]

तथा,

सुन ठगिनी माया, तैं सब जग खाया।
टुक विश्वास किया जन तेरा, सो मूरख पिछताया॥

× × ×

[1] कामता प्रसाद जैन : हिंदी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० २४२-४३

[2] अध्यात्म पदावली, पृ० ३६ 'प्रस्तावना' [3] वही, पृ० ६४

[4] वही, पृ० ६८-७०

केते कंथ किये हैं कुलटा, तौ भी मन न अघाया।
किस ही सौं नहिं प्रीति निबाही, वह तजि और लुभाया ॥
'भूधर' ठगत फिरत यह सबकों, भौंदू करि जग पाया।
जो इस ठगनी कों ठग बैठे, मैं तिसको सिर नाया ॥[1]

इसके सिवाय कवि भूधरदास के 'पद संग्रह' में एक ऐसा भी पद आया है जिसमें चरखे का रूपक है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,

चरखा चलता नहीं, चरखा हुआ पुराना ।।टेक।।
पग खूँटे दुअ हलन लागे, उर मदरा खखराना।
छीदी हुई पाखंडी पसली, फई नहीं मन माना ॥१॥
रसना तकली ने बल खाया, सो अब कैसे खूटै।
सबद सूत सूधा नहिं निकसै, घड़ी-घड़ी पल टूटै ।।२।।

× × ×

मोटा मैंहीं कातकर भाई, कर अपना सुरभेरा।
अंत आग में ईंधन होगा, 'भूधर' समझ सबेरा ॥४।।[2]

जैन कवि आनदघन कदाचित्, इन दोनों कवियों से कुछ पहले हो चुके हैं। इनकी दो पुस्तकें इस समय उपलब्ध हैं जिनमें से 'आनंदघन चौबीसी' के अंतर्गत चौबीसों तीर्थंकरों की प्रशस्ति लिखी गयी है और 'आनंदघन बहोत्तरी' में विभिन्न धार्मिक विषयों पर पदों की रचना की गयी है। इन दोनों में से, विशेषतः दूसरी में, 'अजपा', 'अनहद', 'अवधू', 'सुरत', 'समाधि' और 'ब्रह्म अग्नि परजाली' जैसे शब्दों या समूहों की संख्या अधिक दीखती है। इनका एक प्रसिद्ध पद भी इस रूप में उपलब्ध है,

राम कहो, रहमान कहो कोउ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहौ, कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेवरी ॥

---

[1] अध्यात्म पदावली, पृ० ७२-३

[2] हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १७४

भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री ।
तैसे खंड कल्पना रोपित, आप अखंड सरूप री ॥
निजपद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री ।
कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाणरी ॥
परसै रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्मरी ।
इहि विधि साधो आप आनंदघन, चेतनमय निष्कर्मरी ॥६६॥[1]

जिसमें चेतन के लिए दी गयी विभिन्न संज्ञाओं की चर्चा की गई है। इसकी वर्णन शैली ठीक संतों जैसी ही लगती है और वह, संभवतः उसके प्रभाव से प्रभावित भी है। इसी प्रकार हम एक अन्य जैन कवि द्यानतराय जन्म सं० १७३३ की भी निम्नलिखित रचना में इस बात का एक स्पष्ट उदाहरण पाते हैं; जैसे,

अब हम अमर भए न मरेंगे ॥
तव कारन मिथ्यात दियौ तज क्योंकरि देह धरेंगे ॥
उपजै मरै काल तें प्रानी, तातें काल हरेंगे ।
राग द्वेष जगबंध करत हैं, इनको नाश करेंगे ।
देह विनाशी, मैं अविनाशी भेद ज्ञान पकरेंगे ।
नाशी जासी हम थिरवासी, चोखे हों निखरेंगे ॥
मरे अनंत बार बिन समझे, अब सब दुख बिसरेंगे ।
द्यानत निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरै सुमरेंगे ॥४५॥[2]

इस पद को पढ़ते ही हमें कबीर साहब का वह पद स्मरण होता है जिसका आरंभ 'हम न मरैं मरिहै संसारा, हमकूं मिल्या जियावन हारा' से होता है।[3] ऐसा ही इनका एक दूसरा पद नीचे लिखे अनुसार है जिसके साथ संत रैदास जी के पद का आश्चर्यजनक साम्य दीखता है। जैसे,

---

[1] अध्यात्म पदावली, पृ० २७२-३ [2] वही, पृ० १६२
[3] कबीर ग्रंथावली, पद ४३, पृ० १०२

ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई, पवन थंमै मन कितहुँ न जाई ॥

× × ×

सो तप तपो बहुरि नहि तपना, सो जप जपो बहुरि नहिं जपना ।
सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना, ऐसौ मरौ बहुरि नहिं मरना ॥[1]

संत रैदास जी का पद इस प्रकार मिलता है,

ऐसा ध्यान धरौं बरौं बनवारी । मन पवन दै सुख मन नारी ॥टेक॥
सो जप जपौं जो बहुरि न जपना । सो तप तपौं जो बहुरि न तपना ॥१॥
सो गुरु करौं जो बहुरि न करना । ऐसौ मरौं जो बहुरि न मरना ॥६॥[2]

यहाँ पर द्यानतराय दूसरे को उपदेश दे रहे हैं जहाँ रैदास जी अपने विषय में वर्णन कर रहे हैं, किंतु दोनों ही कवि लगभग एक ही प्रकार की साधना की ओर संकेत करते हैं ।

संतों एवं जैनकवियों की रचनाओं में पायी जाने वाली इस प्रकार की समानता के कुछ उदाहरण हमें उन्नीसवीं शताब्दी में भी मिलते हैं । पंडित दौलत राम उसी शताब्दी के प्रथम चरण में वर्तमान थे और एक अच्छे विद्वान थे । इन्होंने अपने एक पद में इस प्रकार कहा है,

हम तो कबहूं न निजु घर आये ।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये ॥

× × ×

यह बहु मैल भई हमरी फिर, कहा काज पछताये ।
'दौल' तजौ अजहूं विषयन में, सतगुरु वचन सुहाये ॥[3]

जो संतों की ही वर्णन-शैली का स्मरण दिलाता है । इसी प्रकार इस काल के एक अन्य जैन कवि बुधजन हैं जो नीतिपरक रचनाओं के

---

[1] अध्यात्म पदावली, पृ० २६७
[2] रैदास जी की बानी, पृ० २६-२७ [3] अध्यात्म पदावली, पृ० २३६

निर्माणों में भी बहुत प्रसिद्ध हैं। ये भी अपने एक पद में कबीर साहब की भाँति कहते हैं,

करलै हो जीव, सुकृत का सौदा करलै,
परमारथ कारज करलै हो।

× × ×

व्यापारी बन आइयो, नर भव हाट मंझार।
फल दायक व्यापार कर, नातर विपति तयार ॥
मोह नींद माँ सोवता, डूबो काल अटूट।
बुधजन क्यों जागै नहीं, कर्म करत है लूट ॥[1]

जैन कवि ज्ञानानंद की रचना में भी हमें ऐसा स्वर सुन पड़ता है। इनकी एक चेतावनी की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,

भोर भयो, उठ जागो, मनुवा साहब नाम संभारो ॥टेक॥
सूतां सूतां रैन बिहानी, अब तुम नींद निवारो।

+ + + ×

खिन भर जो तूं याद करोगे, सुख निपजैगो सारो।
बेला बित्यां है पछतावे, क्यूं कर काज सुधारो ॥[2]

परंतु उपर्युक्त प्रकार की अनेक समानताओं के रहते हुए भी संतों एवं जैन कवियों की रचनाओं में बहुत कुछ अंतर दीख पड़ता है। संत कवि जहाँ अधिकतर अशिक्षित और अनभिज्ञ थे वहाँ जैन कवियों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। फलतः दोनों वर्ग वालों की रचनाओं में न केवल परिमार्जित भाषा के प्रयोग के ही अंतर हैं, अपितु उनमें वर्ण्य विषय संबंधी भिन्नता भी आ गयी है। जैन कवि जहाँ अपने धर्म विशेष की मान्यता तथा उसकी पारिभाषिक शब्दावली की ओर भी स्वभावतः आकृष्ट हो पड़ते हैं वहाँ संत कवियों में वैसी बात लक्षित नहीं होती।

[1] अध्यात्म पदावली, पृ० २२८ [2] वही, पृ० २७०

ये अधिक से अधिक ऐसे समन्वयवादी ही कहे जा सकते हैं जिनकी भाव-धारा में विविध धर्मों में विषय धर्मों एवं दर्शनों के विचार स्त्रोत आकर मिल गये हों। इसके सिवाय संतों की बानियों में जहाँ किसी अनिर्वचनीय सत्ता की ओर भी संकेत जान पड़ता वहाँ जैन कवियों के लिए वह वस्तुतः कोई अनुपम आदर्श मात्र ही है। अतएव संतों की एक पृथक् परंपरा-सी बन गयी है जो जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, सूफ़ी अथवा किसी भी धर्म वा संप्रदाय से भिन्न कही जा सकती है।

भोजपुरी के संत कवि

भोजपुरी वस्तुतः उत्तरप्रदेश के कतिपय पूर्वी जिलों तथा बिहार प्रांत के पश्चिमी भाग की भाषा है। इसी कारण इसके आदर्श रूप का क्षेत्र बलिया, गाजीपुर, आजमगढ़, देवरिया, बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर तथा शाहाबाद, सारन, चंपारन जैसे वर्तमान जिलों के न्यूनाधिक अंशों तक सीमित समझा जा सकता है। यह भूभाग चिरकाल से विचार-स्वातंत्र्य के प्रेमी, क्रांतिकारी, साहसी, निर्भीक और स्पष्टवादी व्यक्तियों का कार्यक्षेत्र बना रहता आया है और इसमें अनेक महापुरुषों ने जन्म ग्रहण भी किया है। महात्मा गौतम बुद्ध ने, सर्वप्रथम, यहीं के ऋषिपत्तन सारनाथ में अपने विचारों को उपदेश के रूप में प्रकट किया था और यहीं की काशी नगरी में सुदूर प्रांतों तक के महान आचार्यों ने समय-समय पर आकर अपने-अपने मतों के महत्व को कसौटी पर कसने तथा तदनंतर उनका प्रचार करने की चेष्टा आज तक अनेक बार की है। इसी प्रदेश के निवासी प्रसिद्ध पठान शेरखां ने मुगल बादशाह हुमायूं को परास्त किया था और यहीं के बाबू कुंवर सिंह ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध मोर्चा लिया था। इसके सिवाय निर्गुनिया संतों की परंपरा को सर्व प्रथम सुव्यवस्थित रूप देने वाले तथा अपने पीछे 'आदि संत' तक के नाम से विख्यात कबीर साहब के जन्मस्थान का गौरव प्राप्त करने वाली भूमि भी इसी प्रदेश का एक अंग है।

संत कबीर साहब के जीवन काल का सर्वाधिक अंश, कदाचित् काशी में ही व्यतीत हुआ था और यद्यपि सारी रचनाओं की भाषा को आज हम भोजपुरी का नाम नहीं दे सकते फिर भी, इसमें संदेह नहीं कि उनकी अनेकानेक महत्वपूर्ण पंक्तियों का प्रचलित रूप हमें उन्हें मूलतः भोजपुरी ही ठहराने की ओर प्रवृत्त करता है। कबीर साहब ने अपनी बोली को

स्वयं भी पूरबी नाम दिया है जिसका यदि आध्यात्मिक अर्थ न लगाया जाय तो वह भोजपुरी का बोधक हो सकता है। कबीर साहब के भोजपुरी भाषाभाषी होने का एक परिणाम यह हुआ कि उनके मत को स्वीकार करने वाले अन्य क्षेत्रों के संतों ने भी उनके अनुकरण में इस बोली को महत्व देना आरंभ कर दिया और वे इसमें अपनी रचनाएँ तक करने लग गये। कहा जाता है कि कबीर पंथ की छतीसगढ़ी शाखा के प्रवर्तक धर्मदास वर्तमान विंध्यप्रदेश में अवस्थित बांधोगढ़ के मूल निवासी थे। किंतु उनकी उपलब्ध रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उन्होंने बहुत से अपने पदों का निर्माण भोजपुरी में ही किया था। पीछे इनके अन्य अनुयायियों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया और अपनी अनेक सुंदर पक्तियाँ इस भाषा में ही प्रस्तुत कीं।

कबीर साहब की ही भाँति इस प्रदेश के निवासी एक संत रामानंद भी थे जिनका निवास स्थान पटना (जिला गाजीपुर) था। इनके अलावा इनके शिष्य दयानंद के भी किसी पद का पता नहीं चलता और न इन दोनों में से किसी के जीवनवृत्त का ही हमें कोई परिचय मिलता है। परंतु जहाँ तक दयानंद की शिष्या बावरी साहिबा के विषय में उपलब्ध संकेतों से पता चलता है, उनका एक पृथक् संप्रदाय ही चल पड़ा जो आज तक बावरी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है और जिसके अनुयायियों के अनेक मठ आज भी वर्तमान हैं। बावरी साहिबा के प्रमुख शिष्य बीरू साहब थे जिनकी रचनाओं से पता चलता है कि वे किसी भोजपुरी गाँव के ही निवासी थे और उनकी शिष्य-प्रशिष्यों की परंपरा में भी बहुत से ऐसे संत हुए जिनका निवासस्थान इसी क्षेत्र का ही कोई न कोई नगर वा गाँव था। बूला साहब तथा गुलाल साहब भुरकुड़ा जिला गाजीपुर के रहने वाले थे और इन दोनों द्वारा रचे गए भोजपुरी पदों की संख्या बहुत बड़ी है। इसी प्रकार संत गुलाल साहब के शिष्य और जिला आजमगढ़ के निवासी भीखा साहब की भी बहुत-सी रचनाएँ भोजपुरी भाषा में पायी जाती हैं। इन संतों को कविता में पूरा ओज है और इन्होंने अपनी

भोजपुरी रचनाओं में माधुर्य का भी प्रचुर मात्रा में समावेश कर दिखाया है। इनसे भी श्रेष्ठ भोजपुरी कविता संत पलटूदास की कही जा सकती है जो वस्तुतः फैजाबाद जिले के निवासी थे। किंतु जिन्होंने अपने दादा गुरु भीखा साहब एवं उनसे भी अधिक संत कबीर साहब के अनुसरण में अत्यंत राजीव पंक्तियों की रचना कर डाली है।

भोजपुरी प्रदेश के ही गाजीपुर नगर के निवासी संत दुखहरन भी थे जिनकी रचनाओं में से 'पुहुपावती' नाम को एक प्रेमगाथा तथा 'भक्त-माल' नामक एक अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध हैं। इन दोनों में ही कहीं न कहीं हमें भोजपुरी भाषा के उदाहरण मिल जाते हैं। जहाँ तक पता है, इन्होने स्वयं कोई भी पंथ नहीं चलाया, किंतु इनके शिष्य शिवनारायण के नाम पर आज तक शिवनारायणी संप्रदाय प्रचलित है जिसके अनुयायी लाहौर, काबुल, कलकत्ता, बंबई तथा सुदूर दक्षिण अफ्रीका तक अच्छी संख्या में पाये जाते हैं। संत शिवनारायण का जन्म बलिया जिले के चंदवार गाँव में हुआ था और उन्होंने लगभग एक दर्जन ग्रंथों की रचना की है। इनकी भोजपुरी रचनाएँ अधिकतर पदों के रूप में पायी जाती हैं और वे हरिजनों के समाज में बड़े प्रेम और धड़ल्ले के साथ गायी जाती है। बलिया जिले के ही चंदाडीह गाँव के निवासी रामचंद्र पंडित भी थे जिनके शिष्य नवनिधिदास ने सीतारामी संप्रदाय का प्रचार किया। इस संप्रदाय के अनुयायियों में भी हरिसेवक, जयकृष्ण आदि कई संत कवि हो गए हैं जिनकी कुछ भोजपुरी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। इसी प्रकार बलिया जिले के कारों ग्राम निवासी एक बाबा शिवराम भी हो गए हैं जिनकी पुस्तक 'भक्त जयमाल' में हमें भोजपुरी की पंक्तियाँ मिलती हैं। इनके शिष्य प्रसिद्ध कीनाराम अघोरी की रचना 'पोथी विवेकसार' नाम से प्रसिद्ध है। संत कीनाराम बनारस जिले के निवासी थे, किंतु उनके द्वारा प्रचारित 'औघड़ पंथ' बहुत दूर तक प्रचलित है। भोजपुरी क्षेत्र के अंतर्गत हमें गुरु नानक देव के नाम पर प्रचलित 'नानकशाही संप्रदाय' तथा उनके पुत्र श्रीचंद द्वारा प्रवर्तित 'उदासी संप्रदाय' के भी अनुयायी

अच्छी संख्या में मिलते हैं और उनमें से कुछ की रचनाएँ भोजपुरी में भी पायी जाती हैं। संत सुवचनादासी एक ऐसी ही कवियित्री रह चुकी हैं जिनके भोजपुरी के अनेक पद उनकी रचनाओं के संग्रह ग्रंथों में पाये जाते हैं और वे बड़े मार्मिक भी हैं।

भोजपुरी क्षेत्र के पश्चिमी बिहार प्रांत वाले संत कवियों में बाबा धरनीदास को सर्वप्रमुख स्थान दिया जाता है। बाबा धरनीदास जिला सारन के माँझी गाँव में रहते थे और उनको बहुत-सी रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें से कई एक भोजपुरी में भी हैं। ये संत दुखहरन की ही भाँति 'प्रेम-प्रकाश' नामक एक प्रेमगाथा के भी रचयिता हैं और इनकी फुटकर कविताएँ 'प्रेमप्रकाश' में संगृहीत हैं। इनकी फुटकर कविताओं में जो भोजपुरी के पद हैं वे अत्यंत सरस और सुंदर हैं। इन्होंने उनमें प्रायः सर्वत्र मुहावरेदार भाषा के प्रयोग किए हैं और उनका शब्द विन्यास एवं अलंकार योजना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संत पलटूदास की भोजपुरी रचनाओं में जहाँ हमें विशेष ओज एवं प्रवाह के गुण देखने को मिलते हैं वहाँ बाबा धरनीदास की वैसी पंक्तियों में पद लालित्य की छटा भी दीख पड़ती है। काव्य-रचना करते समय ये दोनों ही कवि आत्मविभोर हो जाया करते हैं और अपने निर्माण-कौशल द्वारा हमारा मन अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। बाबा धरनीदास के धरनी संप्रदाय का प्रभाव केवल पश्चिमी बिहार में ही न होकर उत्तरप्रदेश के बलिया जिले में भी उसी प्रकार का है। परंतु आश्चर्य है कि उसके प्रवर्त्तक के अतिरिक्त किसी अन्य वैसे संत की रचनाएँ हमें ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलतीं। जान पड़ता है कि इस संप्रदाय के अनुयायियों ने पीछे जितना ध्यान विशुद्ध जीवन-निर्माण की ओर दिया है उतनी उन्होंने साहित्य सर्जन की चिंता नहीं की है।

पश्चिमी बिहार प्रांत के सारन जिला वाले उक्त धरनीश्वरी संप्रदाय की ही भाँति उसके शाहाबाद जिले का 'दरियापंथ' भी प्रसिद्ध है जिसके प्रवर्त्तक संत दरिया साहब नामक एक महान पुरुष थे। संत दरिया की

जन्म भूमि उस जिले का घरकंधा नामक गांव था और वे बाबा धरनीदास के पचासों वर्ष पीछे तक वर्तमान थे। दरिया पंथ के अनुयायी उत्तरप्रदेश में भी मिलते हैं। संत दरिया साहब द्वारा लिखे गए अथवा रचित बीस ग्रंथों तक का पता चलता है। इनमें से केवल किसी-किसी में ही भोजपुरी दीख पड़ती है। इन्होंने अपने को संत कबीर साहब का अवतार बतलाया था और उन्हीं की भाँति ये रचना करने की भी चेष्टा करते थे। इनके 'शब्दों' के संग्रह ग्रंथ में हमें भोजपुरी रचनाओं के उदाहरण अधिक संख्या में मिलते हैं और कई एक इनकी अन्य पुस्तकों में भी पाये जाते हैं। किंतु इनकी पंक्तियों में जितनी एक धर्मप्रचारक की दृष्टि काम करती जान पड़ती है उतना उनमें काव्य-सौष्ठव का पता नहीं चलता। इस बात में संत दरियादास संत शिवनारायण के समान जान पड़ते हैं और इन दोनों की भोजपुरी की रचनाएँ भी प्रायः एक ही स्तर की हैं। इन दोनों से अधिक उच्चकोटि की रचनाएँ बिरंचि गोसांई की कही जा सकती हैं जो दामोपुर जिला बलिया के निवासी थे और जिन्होंने किसी संप्रदाय विशेष का प्रचार न करके अपने उद्गार केवल व्यक्तिगत रूप से ही व्यक्त किए हैं।

बिहार प्रांत के संत साहित्य की यह एक विशेषता रही है कि उसका निर्माण अभी आधुनिक समय तक निरंतर होता आया है। इसके लिए बहुत कुछ श्रेय वहाँ के उन दो संप्रदायों को दिया जा सकता है जो 'सखी संप्रदाय' तथा 'सरभंग संप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सखी संप्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक 'लछिमी सखी' नाम द्वारा अभिहित किये जाते हैं। उनका जन्म सारन जिले के अमनौर गांव में सं० १८९८ में हुआ था तथा उनका पहले का नाम केवल लछिमीदास ही था। उनकी रचनाओं में से 'अमर सीढ़ी', 'अमर कहानी', 'अमर फरास', 'अमर बिलास' तथा 'हटाका' प्रकाशित हो चुकी हैं और उनकी भाषा भोजपुरी है। इनमें लगभग पाँच सहस्र पद संगृहीत हैं जिनमें झूमर, ठुमरी, सावनी, पुरबी, खेमटा, गारी, होरी एवं शब्द जैसे विविध गीतों का समावेश किया

RAMAKRISHNA MISSION LIBRARY
MUTHIGANJ ALLAHABAD

गया है। लछिमी सखी के पाँच प्रधान शिष्य हैं जो क्रमशः कामता सखी, सिद्धनाथ सखी, प्रतीप सखी, गीता सखी एवं त्यागी सखी के नामों द्वारा प्रसिद्ध हैं। इन चेलों में से भी कई ने कुछ न कुछ गेय पदों का निर्माण किया है। सखी संप्रदाय की विशेषता उसके अनुयायियों द्वारा अपने इष्ट-देव को दांपत्य भाव की दृष्टि से आराधित किया जाता है। ये लोग अपने को वैष्णव से भिन्न नहीं माना करते। किंतु इनकी विचारधारा का अधिक मेल निर्गुनिया संतों के सिद्धांतों से ही प्रतीत होता है। इनकी एक अन्य विशेषता इनके बहुधा अघोर पंथियों जैसा व्यवहार करने में भी दीख पड़ती है। इनके भजनों में लगभग वे सभी विषय आये हैं जो हमें संत कबीर साहब तथा अन्य उस प्रकार के संतों की रचनाओं में मिलते हैं। उनकी वर्णन शैली भी बहुत कुछ वैसी ही है।

सरभंग संप्रदाय का सबसे अधिक प्रचार चंपारन जिले में दीख पड़ता है। इसके सर्व प्रथम प्रवर्त्तक का पता नहीं चलता, किंतु उपलब्ध रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि उसके प्रमुख प्रचारकों में भिखराम, टेकमन राम आदि ही रहे होंगे। इनकी पंक्तियों में भी वही भावधारा प्रधानतः लक्षित होती है जो निर्गुनियों के संत साहित्य में सुरक्षित है और इनकी भाषा भी भोजपुरी है। अघोर पंथ द्वारा प्रभावित होने में इस संप्रदाय के अनुयायी सखी संप्रदाय वालों से भी बढ़ कर कहे जा सकते हैं। किंतु उनकी साधना में उस दांपत्य भाव का प्राचुर्य नहीं जो सखी संप्रदाय वालों की सबसे बड़ी विशेषता है। 'सरभंग' शब्द के वास्तविक अर्थ का पता नहीं चलता और कभी-कभी लोग इसे किसी प्रसिद्ध प्राचीन ऋषि का नाम होना मात्र सिद्ध करना चाहते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इसे हम स्वरभंग शब्द का रूपांतर भी मान सकते हैं जिसका अर्थ, इस संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा स्वर-साधना को महत्व देना कहा जा सकता है। किंतु न तो इस संप्रदाय का कोई संबंध सरभंग ऋषि से प्रमाणित होता और न स्वर-साधना इसकी विशेषता ही ठहरती है। यह शब्द यदि 'सरभंग' अथवा 'सर्वांग' शब्द का किंचित् विकृत रूप मान लिया

जाय तो यह संप्रदाय के व्यापक सिद्धांतों का बोधक बन सकता है। इस संप्रदाय के अनुयायियों की रचनाओं से पता चलता है कि इनके यहाँ किसी प्रकार के विधि निषेध को महत्व नहीं दिया जाता प्रत्युत एक नितांत उदारतापरक एवं स्वच्छंद जीवन को आदर्श माना जाता है जो कभी कदाचित् वज्रयानी सिद्धों का भी परम ध्येय रहा।

योग परक साधना को ही विशेष महत्व प्रदान करने वाले आधुनिक संतों का यहाँ पर एक दूसरा भी वर्ग है जिसका नेतृत्व आजकल बाबा मेंहदीदास करते जान पड़ते हैं और उनका मुख्य स्थान पुर्निया है। इसके अनुयायी नाद एवं बिंदु की आध्यात्मिक व्याख्या करके उसके अनुसार सत्संग साधना पर अधिक बल देते हैं और यही इनके साहित्य का भी प्रमुख विषय है। बाबा मेंहदीदास को हम विशुद्ध भोजपुरी का कवि नहीं कह सकते किंतु उनकी रचनाओं में इसके प्रभाव की कमी भी नहीं है। उनकी काव्य-भाषा प्रधानतः अवधी कही जा सकती है और उनके वर्ग का मूल संबंध संभवतः अवध से ही जुड़ा हुआ है। अवध का प्रांत उत्तर-प्रदेश का अंग है और यहाँ पर सत्तनामी संप्रदाय की कोटवा शाखा प्रवर्तित की गई थी। उसके प्रवर्तक जगजीवन साहब के किसी मोहन साईं नामक शिष्य द्वारा प्रचलित 'साईंदाता' नामी संप्रदाय भी वहाँ जीवित है। बाबा मोहन दास अपने को बाबा देवी साहब का अनुयायी घोषित करते हुए प्रतीत होते हैं जिनका निकट संबंध सत्तनामी संप्रदाय से भी जोड़ा जा सकता है। अतएव हो सकता है इनके वर्ग वाले संतों की वास्तविक भाषा अवधी ही रही हो, किंतु बिहार के प्रचार क्षेत्र होने से भोजपुरी भी प्रयुक्त होने लगी हो। सारांश यह कि वर्तमान काल में भी अपने मतों के प्रचार-कार्य में निरत संत कवि भोजपुरी को महत्व देते जान पड़ते हैं।

संत कवियों के भोजपुरी गीतों का यदि कोई उदाहरण देना चाहें तो हम संत पलटू साहब का वह पद दे सकते हैं जो उनके शब्दों के संग्रहों में मिलता है। इसमें अत्यंत कोमल भावों को सरस एवं

मार्मिक शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है; जैसे,

प्रेम बान जोगी मारल हो कसके हिया मोर ||
जोगिया के लाली लाली अखियाँ हो जस कंवल के फूल ।
हमरी त सुरुख चुनरिया हो दूनो भये तूल ||१||
जोगिया के लैंउ मिर्गछलवा हो आपन पट चीर ।
दूनो के सियब गुदरिया हो होई जाब फकीर ||२||
गगना में सिंगिया बजाइन्हि हो ताकिन्हि मोरी ओर ।
चितवनि में मन हरि लियो हो जोगिया बड़ चोर ||३||
गंग जमुनवा के बिचवा हो बहे झिरहिर नीर ।
तेहि ठैयाँ जोरल सनेहिया हो हरि ले गइले पीर ||४||
जोगिया अमर मरै नाहिंन हो पुजवल मोरी आस ।
करम लिखा वर पावल हो गावै पलटूदास ||५||

संत कवियों की भोजपुरी रचनाएँ

भोजपुरी बोली का प्रदेश चिर-काल से विचार स्वातंत्र्य के प्रेमी, साहसी एवं क्रांतिकारी व्यक्तियों का कार्यक्षेत्र रहता आया है। महात्मा गौतम बुद्ध ने सर्व प्रथम, इस प्रदेश के ही ऋषिपत्तन (सारनाथ) में अपने नवीन विचारों को व्यक्त किया था। उनका प्रचार करने के लिए अपने शिष्यों को यहाँ से चारों ओर भेजा भी था। उनका प्रायः सारा जीवन-काल इस प्रदेश में भ्रमण करते बीता और यहीं से उनका संदेश विश्व के कोने-कोने तक पहुँच गया। सारनाथ की निकटवर्त्तिनी काशी नगरी की एक प्रमुख विशेषता इस बात में भी देखी गयी है कि भिन्न-भिन्न मतों के प्रचारक यहाँ पर एक बार कभी-न कभी अवश्य आया करते थे। उनका यहाँ के पंडितों के साथ बहुधा शास्त्रार्थ भी होता था और उनकी यह काशी-यात्रा उनके लिए कसौटी का काम कर देती थी। पूर्वकाल में यहाँ पर कई प्रसिद्ध गणतंत्रों की भी स्थापना हुई थी, जिन्होंने सैदपुर-भीतर के निकट विदेशी आक्रमक हूणों को पराजित किया था।

इधर के इतिहास काल में भी, इस प्रदेश के निवासी पठान शेरखाँ ने मुगल बादशाह हुमायूँ के विरुद्ध मोर्चा लेकर उसे परास्त किया था तथा बाबू कुँवर सिंह ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध छिड़ने वाले भारत के प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम में अपने अपूर्व साहस का परिचय दिया था। इस प्रदेश के निवासियों की निर्भीकता, स्पष्टवादिता, साहसिकता एवं स्वातंत्र्य प्रियता के अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं।

'निर्गुनिया' संतों की परंपरा का सूत्रपात भी पहले-पहल इसी भोजपुरी प्रदेश में हुआ था। संतमत की सारी बातें स्वानुभूति को महत्व प्रदान करती हैं और वह कतिपय स्वाधीनचेता महापुरुषों की ही साधना तथा विचारधारा का परिणाम है। इसके सर्व प्रथम प्रमुख प्रचारक संत कबीर

साहब थे, जो काशी नगरी के निवासी थे और जिनकी बोली भोजपुरी थी। अपनी बोली को उन्होंने अपनी एक साखी में 'पूरबी' बतलाया है,[१] जिसका अभिप्रायः आध्यात्मिक समझा जाता है, किंतु जिसका साधारण अर्थ पूरब की बोली है। 'पूरबिया' शब्द साधारणतः 'मध्य-प्रदेश के पूर्व' वाले प्रांत के निवासी के लिए प्रयोग में आता है और हेनरी यूल तथा ए० सी० बर्नेल ने 'पूरब' एवं 'पूरबिया' की व्याख्या करते हुए लिखा है—'उत्तरी भारत में इस शब्द से प्रायः अवध, बनारस तथा बिहार से तात्पर्य है। अतएव 'पूरबिया' शब्द का प्रयोग उन सिपाहियों के लिए किया जाता था जो बंगाल की सेनाओं में इन स्थानों से भर्ती होते थे'।[२] इनमें से बनारस अर्थात् कबीर साहब के निवास-स्थान काशी नगरी की बोली 'बनारसी' तो निस्संदेह भोजपुरी का ही एक रूप है। इसके सिवाय इधर के लोग आजकल भी कभी-कभी गवैयों से 'अब एगो पुरुबी गाईं' कह कर भोजपुरी गीत के लिए ही अनुरोध करते दीख पड़ते हैं। अतएव, डा० उदयनारायण तिवारी का यह कथन कि 'कबीर की मूल वाणी का बहुत-कुछ अंश उनकी मातृभाषा बनारसी बोली में ही लिखा गया था'[३] तथ्य से अधिक दूर जाता नहीं प्रतीत होता और इस बात के लिए प्रमाण भी दिए जा सकते हैं। कबीर साहब एक पर्यटनशील और बहुश्रुत व्यक्ति थे, जिस कारण संभव है, उन्होंने भोजपुरी के अतिरिक्त अन्य बोलियों में भी रचना की होगी, किंतु यह भी स्पष्ट है कि उनके बहुत-से पदादि का रूप उनकी अधिक प्रसिद्धि के कारण, विकृत

---

[१]मेरी बोली पूरबी, ताइ न चीन्है कोई।
मेरी बोली सो लखै, जो पूरब का होई ॥४॥
(कबीर-ग्रथावली, पृष्ठ ७८, पाद-टिप्पणी)

[२]कबीर की भाषा (डा० उदयनारायण तिवारी) हिंदी अनुशीलन प्रयाग, वर्ष २, अंक ३, पृ० २ पर उद्धृत

[३]वही

और परिवर्तित भी हो गया है। आज यह कहना सरल नहीं जान पड़ता है कि उनकी अमुक रचना मूलतः भाषा विशेष में ही रही होगी।

कबीर साहब की प्राचीन एवं प्रामाणिक समझी जानेवाली रचनाएँ प्रायः तीन प्रकार के संस्करणों में पायी जाती हैं। इनमें से एक में राजस्थानी भाषा की प्रधानता है, दूसरा पंजाबी द्वारा प्रभावित है और तीसरा अवधी के साँचे में ढला हुआ है। पहले के अंतर्गत अधिकतर वे रचनाएँ आती हैं जो दादूपंथियों एवं निरंजनियों के संग्रहों में मिलती हैं और जिनके उदाहरण 'काशी-नागरी- प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'कबीर ग्रंथावली' में उपलब्ध हैं तथा दूसरे प्रकार के नमूने 'आदिग्रंथ' संगृहीत हैं। इसी प्रकार तीसरे वर्ग में उन रचनाओं को संमिलित किया जा सकता है जो 'कबीर-बीजक' के रूप में सुरक्षित हैं। परंतु इन सभी में यत्र-तत्र भोजपुरी बोली के शब्द, वाक्य अथवा कभी-कभी लगभग समूचे पद तक पाये जाते हैं, केवल थोड़ा-सा ही रूपांतर मिला करता है। उदाहरण के लिए, 'कबीर-ग्रंथावली' से नीचे लिखे अवतरण दिये जा सकते हैं,

(१) हरि मरिहैं तौ हमहूँ मरिहैं (पद ४३, पृ० १०२)
(२) जलहै तनि बुनि पांन न पावल (पद ५०, पृ० १०४)
(३) प्रेम खटोलवा कसि-कसि बाँध्यौ (पद ७७, पृ० ११२)
(४) गोविंद के गुन बैठे गैहैं, खैहैं टुकरो रोरे (पद ८४, पृ० ११५)
(५) जाइ परी हमरी का करिहैं......
इंद्री स्वादि विषै रस बहिहैं (पद १४३, पृ० १३४)
(६) धीरी मनवाँ तोहि धरि टाँगौ......
प्रेम की जेंवरिया तेरे गालि बांधू (पद २१३, पृ० १६०)

इसी प्रकार, उक्त 'ग्रंथावली' के ऐसे ही लगभग समूचे पद के उदाहरण में डा० तिवारी ने निम्नलिखित रचना दी है—

मैं बुनि-करि सिरौंना हो राम, नालि करम नहिं उबरे ॥
दखिन कूंट जब सुनहाँ भूँका, तब हम सुगन विचारा।

लरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो राम ॥
तॉंना लीन्हाँ बाना लीन्हाँ, लीन्हें गोड के पउवा ।
इत उत चितवत कठवन लीन्हा, माँड चलवना डउवा हो राम ॥[१]

जिसमें केवल 'मैं', को 'में' 'सिराँना', को सिरइलों, 'भूँका' को 'भूँकल', 'विचारा' को 'विचरलो', 'जागत हैं' को 'जागतारे', 'पसारा' को 'पसरले' और 'लीन्हा' को 'लिहलो' मात्र कर देने से ही उसका भोजपुरी रूप बन सकता है।

'आदिग्रंथ' या 'गुरुग्रंथ साहिब' के भी हम इस बात के उदाहरण में राग गूजरी का एक पद इस प्रकार दे सकते हैं,

चारि पाव दुइ सिंग गुंग मुख, तब कैसे गुन गईहै ।
ऊठत बैठत ठेंगा परिहै, तब कत मूँड लुकईहै ॥
हरि बिनु बैल बिराने हुईहै ।
फाटे नाकन टूटे काँधन, कोदोउ के भुसु खईहै ।
सारो दिनु डोलत मन महीआ, अजहु न पेट अघईहै ।[२]

तथा 'कबीर-बीजक' का निम्नलिखित पद बतला सकते हैं,

अब हम भइलि बाहर जल मीना, पुरब जनम तप का मद कीन्हा ।
तहिया मैं अछलों मन बैरागी, तजलौं मैं लोग कुटुम राम लागी ।
तजलौं कासी मति भै भोरी, प्राननाथ कहु का गति मोरी ।
हमहीं कुसेवक तुमहीं अयाना, दुइ मंह दोस काहि भगवाना ।
हम चलि अइलीं तोहरे सरना, कतहु न देखहुँ हरिजी के चरना ।
हम चलि अइलों तोहरे पासा, दास कबीर भल कैल निरासा ।[३]

जिसमें भगवान गोसाईं के पाठानुसार महत्त्वपूर्ण अंतर केवल 'पुरब'

---

[१] पद २ , पृ० ६४ हिंदी-अनुशीलन, प्रयाग; वर्ष २, अंक ३. पृ० ४ पर उद्धृत

[२] गुरुग्रंथ साहिबजी, पृ० ४२४

[३] बीजक, पृ० ६५-६

के 'पुचिल', 'अछलों' के 'अचलों', 'तजलों' के 'तेजलों', तुमहि के 'तुई', 'देखहुँ' के 'देखो', 'अइलों के 'ऐली' तथा 'कैल' के 'कैलहुँ' में ही दीख पड़ता है। अवधी-प्रधान रचनाओं के संग्रहों में 'बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग' वाला संस्करण भी प्रसिद्ध है, जिसमें भोजपुरी बोली का एक पद इस रूप में आया है,

> कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो ।।टेक।।
> चंदन काठ के बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो ।
> उठो री सखी मोरी माँग सँवारो, दुलहा मोसे रूसल हो ।
> आये जमराज पलँग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो ।
> चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँ दिसि धूधू ऊठल हो,
> कहत कबीर सुनो भाइ साधो, जग से नाता छूटल हो ![1]

इसी प्रकार के एक अन्य (शांतिनिकेतन वाले) संग्रह में भी कुछ ऐसे ही पद आये हैं जिनका अँगरेजी अनुवाद भी डा० रवींद्रनाथ टाकुर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव् कबीर' में किया है।[2]

संत कबीर साहब द्वारा अपनाये जाने के कारण भोजपुरी का महत्त्व उनके पीछे और भी बढ़ गया। उनके नाम पर चलाये गये कबीर-पंथ का अनुसरण करने वाले लोगों ने उनकी वाणी का आदर की दृष्टि से देखा और उसका अनुकरण किया। उनके प्रसिद्ध शिष्यों में धर्मदास का नाम लिया जाता है और उन्हें बाँधवगढ़ (मध्य-प्रदेश) का निवासी बतलाया जाता है। कबीर-पंथ को मध्य-प्रदेश में प्रचलित करने में उनका सबसे अधिक हाथ रहा। किंतु उनकी भी बहुत-सी रचनाएँ भोजपुरी में ही मिलती हैं जिनके द्वारा कभी-कभी अनुमान होने लगता है कि

[1] कबीर साहेब की शब्दावली (पहला भाग), पृ० २२

[2] दे० पोयम नं० ६६ जो 'मन ना रँगाये' आदि का अँगरेजी अनुवाद है।

वे इस प्रदेश में भी बहुत दिनों तक रह चुके होंगे। धर्मदास की समझी जाने वाली रचनाओं का एक संग्रह 'बेलेवेडियर प्रेस, प्रयाग' से प्रकाशित है; जिसका एक पद यह है,

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो ॥ टेक ॥
अपन बलम परदेस निकरि गैलो,
हमरा के कुछवो न गुन दै गैलो ॥१॥
जोगिन होइ के मैं बन बन ढूढौं,
हमरा के विरह वैराग दै गैलो ॥२॥
सँग के सखी सब पार उतरि गैलीं,
हम धनि ठाढ़ी अकेली रहि गैलो ॥३॥
धरमदास यह अरज करतु है,
सार सब्द सुमिरन दै गैलो ॥४॥[1]

इसमें लक्षित होनेवाला यत्किंचित् रूपांतर इसके प्रचार के कारण है।

संत कबीर साहब के अनंतर जो संतों की परंपरा चल निकली, उसमें कई एक संत भोजपुरी प्रदेश के भी हुए। 'बावरी-पंथ' नाम का एक ऐसा ही संप्रदाय इस प्रदेश के गाजीपुर जिले में सर्वप्रथम स्थापित हुआ था, जिसका प्रचार दिल्ली तक हुआ। बावरी साहिबा के दादा गुरु दयानंद एवं परदादा गुरु रामानंद ग्राम पटना (जिला गाजीपुर) के ही निवासी बतलाए जाते हैं। फिर इनकी शिष्य परंपरा के भी बूला साहेब, गुलाल साहेब और भीखा साहेब आदि संतों का प्रचार-केंद्र उसी जिले के भुरकुड़ा ग्राम में स्थापित हुआ जहाँ से उनका पंथ अन्य प्रांतों में फैलता गया। बूला साहेब (सं० १६८९-१७६६) जाति के कुरमी थे और वे दिल्ली के यारी साहेब द्वारा दीक्षित होकर यहाँ पर सत्संग करते थे। उनकी साधना बहुत गंभीर थी। उनका एक भोजपुरी पद इस प्रकार है,

सत गुरु नावल अधर हिंडोलना। हम धनि झूलब सुघर हिंडोलना ॥१॥

---

[1] धरमदास जी की शब्दावली, पृ० १२

झूलन-झूलत गइलुँ गगनहि तटना। तहवाँ साधन का देखलुँ अखरना ॥२॥
संत सुहावन जगमग देखलना। तहवाँ प्रान हमारा समैलना ॥३॥
अबकी समैले फिर न अइबना। जन बूला गावल निरगुन हिंडोलना ॥४॥[1]

इसमें सुरत-शब्द-योग की अनुभूति का एक परिचय दिया गया है।

बुल्ला साहब के शिष्य गुलाल साहब ने उनसे भी अधिक भोजपुरी रचनाएँ की हैं और वे बहुत सुंदर हैं। वे अपनी साधना एवं अनुभूति का परिचय बड़े सरल शब्दों में देते हैं और इस प्रकार अपनी रचनाओं को ललित एवं चित्ताकर्षक भी बना देते हैं। इनके गुरु बूला साहब इन्हीं के यहाँ पहले बुलाकीराम के रूप में हलवाही कर चुके थे, जब इन्होंने उनसे दीक्षा ग्रहण की थी। इनके भोजपुरी पदों के उदाहरण भी नीचे लिखी रचनाएँ दी जा सकती हैं।

मनुवाँ मोर भइल रँग बाउर, सहज नगरिया लागल ठाउर।
ऊदित चँद झरै तहँ मोती, गरत अमी उहाँ नाम के जोती ॥
अँगना बहारि के बाँधल केसा, कइलूँ सिंगरवा गइलूँ पिया देसा।
आनंद मंगल बाजत तूर, फरल लिलार भइलूँ पिय के हजूर ॥
छोटमुट रुखवा बहुत पसरवा, तेहि तर हम धनि मँजलूँ चरवा।
कहत गुलाल राम रस पाई, मगन भइल जिव गइल बलाई ॥[2]

तथा

आजु मन रावल रचल धमारी, कुहुकि कुहुकि हरि मिलल सुखारी ॥
काया नगर में खेल पसारी, भरि-भरि रूप थकलि नौ नारी ॥
जगर मगर अति लगत पियारी, बाजत अनहद धुनि झनकारी ॥
तहाँ ना रवि ससि पुरुष ना नारी, आपुहि अपने भइल बुझारी ॥
कहत गुलाल हम फाग बिचारी, अब न खेलब सतगुरु बलिहारी ॥[3]

इनमें गुलाल साहब ने अपने निजी अनुभव का वर्णन किया है।

---

[1] बुल्ला साहब का शब्दसागर, पृ० १९-२०

[2] गुलाल साहब की बानी, पृ० १०४ [3] वही, पृ० १०४-५

भीखा साहब गुलाल साहब के शिष्य थे और उनकी गद्दी पर, भुरकुड़ा में, उनके अनंतर सत्संग भी कराते रहे। उन्होंने भी अपने गुरु एवं दादागुरु की भाँति भोजपुरी में पदों की रचना की है। उनके पदों में साधना का स्पष्ट वर्णन विशेषतः उल्लेखनीय है। वे अपने एक ऐसे ही पद में इस प्रकार कहते हैं,

जोग जुगति कै हिंडोलवा, गुरु सहज लखावल।
चाँदै राखि सूर पौढ़ावल, पवन डोरि धै पावल॥
अरध उरध मुख पावल, पुलकि-पुलकि छबि भावल।
गगन मगन गुन गावल, सुरति निरति में समावल॥
भीखा एहि विधि मन लावल, आतम दरसावल॥[1]

इन भीखा साहब के शिष्य गोविंद साहब के ही शिष्य पलटू साहब थे जो अपनी महत्ता के कारण दूसरे कबीर तक माने जाते थे। इनका मूल निवास स्थान फैजाबाद जिले में था और ये अंत तक अयोध्या में ही रहे थे। किंतु इन्होंने अपनी बोली अवधी के अतिरिक्त भोजपुरी में भी अपनी बानियों की रचना की और इस प्रकार परंपरा का निर्वाह किया। इनका एक भोजपुरी पद इस प्रकार है—,

प्रेम बान जोगी मारल हो, कसकै हिया मोर॥टेक॥
जोगिया कै लाली लाली अँखिया हो, जस कँवल कै फूल।
हमरी त सुरुख चुनरिया हो, दूनो भये तूल॥
जोगिया के लेउ मिर्गछलवा हो, आपन पट चीर।
दूनौ के सियब गुदरिया हो, होइ जाब फकीर॥
गगना में सिंगिया बजाइन्हि हो, ताकिन्हि मोरी ओर।
चितवन में मन हरि लियो हो, जोगिया बड़ चोर॥
गंग जमुन के बिचवा हो, बहै झिरहिर नीर।
तेहि ठैयाँ जोरल सनेहिया हो, हरि लै गयो पीर॥

---

[1] भीखा साहब की शब्दावली, पृ० ४६

ठोशिना अक्कर मरि जाहिं न हो, पुजवल मोरी आस।
करम लिखा बर पावल हो, गावैं पलटूदास ॥[1]

इस प्रकार, पलटूदास के ऐसे पदों में न केवल भेद एवं ज्ञान की बातें हैं; अपितु ये बड़ी सरस शैली में कही भी गई हैं।

भोजपुरी प्रदेश के अन्य संत कवियों में बाबा धरनीदास का नाम भी प्रसिद्ध है जो माँझी, जिला सारन, के निवासी थे। ये एक पहुँचे हुए महात्मा थे और इनका धरनीश्वरी संप्रदाय का बहुत-कुछ प्रचार उत्तर प्रदेश में भी हुआ था। संत पलटूदास की ही भाँति इनकी भी बहुत-सी रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें भोजपुरी के बहुत सुंदर और सजीव पद हैं। यहाँ पर इनकी 'उधवा प्रसंग' तथा 'महराई' नामक दो रचनाओं के कुछ अंश क्रमशः दिये जाते हैं,

धरनी गुह मन ओरा भेला हो गुर भेला व्याध।
बान सबद हिये चुभी गेला हो दरसन साध ॥
धरनी जेहो धनी बिरहनि हो मन धीजै न धीर।
बिहवल बिकल बिलखि चित हो दुबर शरीर ॥
धरनी धीरज न रहै हो बीनु बनवारि।
रोअत रकत के अँसुवन हो पंथ निहारि ॥
धरनी पिय परबत पर हो हिए चढ़त डेराउ।
कबहिक पाँव डगमगे हो तब काहाँ ठाँउ ॥
धरनी धरकत हिय जनु हो, हो करक करेज।
ढरकत भरि-भरि लोचन हो, पिय नाहीं सेज ॥[2]

—उधवा प्रसंग

तथा

ताहि पर ठाढ़ देखल एक महरा, अबरनी बरनी न जाए।

[1] पलटू साहब की बानी, भा० ३, पृ० २२-३

[2] शब्द प्रकाश, हस्तलिखित प्रति, पृ० ८४-५

मन अनुमान कहल जन धरनी, धन जे सुन पतिआए ॥
पाव दुवो पउआ परम झलकार । दुरहुर स्याम तन लाम लहकार ।
लमहरि केसिआ पतरि करिहाव । पीअरी पिछौरी कटि कहते न आव ॥
चंदन की खोरि भरेला सब अंग । धारा अनगनीत बहैला जनु गंग ॥
माथे मनि मुकुट लकुट कुटि लाल । झिनवा तिलक सोभे तुलसी माल ॥
निक नाक पतरी ललौटी बड़ी आँखि । मुकुट मझारे एक मोरवा के पाँखि ॥
कान दुओ कुंडल लटक लट झूल । दाढ़ी गोंछ नुतन जैसन मखतूल ॥
परफुलित बदन मधुर मुसुकात । ताही छबि उपर धरनि बलि जात ॥
मन कइला दंडवत भुइआ धरि सीस । माथे हाथे धरि प्रभु देलन्हीं असीस ॥ [१]

—महराइ

बाबा धरनीदास के उपर्युक्त दूसरे पद में सगुण भक्तों की भाँति श्रीकृष्ण के रूप का वर्णन किया गया मिलता है। परंतु वे वस्तुतः निर्गुण-परंपरा के ही संत कवि थे, यद्यपि उनकी वर्णन-शैली सदा उसी प्रकार की नहीं रहा करती थी। उनका एक और पद है,

पिया मोरा बसै गउर गढ़, मैं बसौं प्रयाग हो ।
सहजहिं लागु सनेह, उपजु अनुराग हो ॥
असन बसन तन भूषन, भवन न भावै हो ।
पल पल समुझि सुरति मन, गहवरि आवै हो ॥
पथिक न मिलहि सजन जन, जिनहिं जनावो हो ।
बिह्वल बिकल बिलखि चित, चहुँ दिशि धावो हो ॥
होइ अस मोहि ले जाइ, कि ताहि ले आवै हो ।
तेकरि होइवों लउँड़िया, जे रहिया बतावै हो ॥
तबहिं त्रिया पत जाइ, दोसर जब चाहै हो ।
एक पुरुष समरथ धन, बहुत न चाह हो ॥
धरनी गति नहिं आनि, करहु जस जानहु हो ।

[१] शब्द-प्रकाश, हस्तलिखित प्रति, पृ० ४३०-१

मिलहु प्रगट पट खोलि, भरम जनि मानहु हो ॥[1]

बिहार के एक अन्य संत दरिया दास ने भी भोजपुरी में लिखा है। ये धरकंधा, जिला शाहाबाद के रहनेवाले थे और इनकी भी बहुत-सी रचनाओं का पता चलता है, जिनमें संतमत की बातें प्रकट की गई हैं। इनके दरियादासी संप्रदाय का प्रचार बिहार के अतिरिक्त उत्तरप्रदेश के भी कई जिलों में है और इनके कई मठ भी स्थापित हैं। इनका एक भोजपुरी पद है,

अबकी के बार बकसु मोरे साहब, जनम जनम के चेरि हे।
चरन कँवल में हृदय लगाइब, कपट कागज सब फारि हे।
मैं अबला किछुओ नहीं जानौं, परपंचन के साथ हे।
पिया मिलन बेरी इन्ह मोरा रोकल, तब जिव भयेल अनाथ हे।
जब दिन में हम निहचे जानल, सूझि परल जमफंद हे।
खुलल दृष्टि दिया मनि लेसल, मानहु सरद के चंद हे॥
कह दरिया दरसन सुख उपजल, सुख दुख दूरि बहाय हे ॥[2]

बिहार के दरियादास की भाँति उत्तर-प्रदेश के संत शिवनारायण ने अपनी शिवनारायणी संप्रदाय चलाया था। इनका जन्म चंदवार नामक गाँव में हुआ था, जो उस समय गाजीपुर जिले में पड़ता था, किंतु अब बलिया जिले में है। इनके मत का प्रचार लाहौर, बंबई, कलकत्ता तथा दक्षिणी अफ्रिका तक में यत्र-तत्र पाया जाता है। कहा जाता है कि इनके व्यक्तित्व का प्रभाव इनके समकालीन बादशाह रंगीले मुहम्मदशाह तक पर पड़ा था, और वह उन्हें बहुत मानता था। उनके गुरु दुखहरन भी संभवतः गाजीपुर के ही निवासी थे। उनकी भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें भोजपुरी के उदाहरण हैं। दुखहरन की एक रचना 'भक्तमाल' नाम से प्रसिद्ध है, जो अभी तक अप्रकाशित रूप में है। उसमें

[1] धरनीदासजी की बानी, पृ० २
[2] दरिया साहेब के चुने हुए शब्द, ८०४

भोजपुरी का एक दोहा इस प्रकार है,

झंखत झुखत रात दिन, लगन निअर अब आइ ।
बहुत बिकल भई रुकुमिनी, तनिको कछु न सोहाइ ॥[1]

संत शिवनारायण की एक दर्जन से भी अधिक रचनाएँ बतलायी जाती हैं, जिनमें से कई एक में भोजपुरी के उदाहरण मिलते हैं। इनकी 'शब्दावली' का एक पद इस प्रकार है,

सूतल रहली मैं नींद भरी गुरु देहलें जगाय ।
गुरु के चरन रज अंजन हो, लेहलिउँ नैन लगाय ।
तबहीं से नींद न भावे हो, ला.ी मन अलसाय ।
गुरु के चरन रज सागर हो, चलि सागरे नहाऊँ ।
जनम जनम के पातक हो, छन में धुलि जाय।
पियलों मैं प्रेम पियाला हो, गयले मन अलसाय ।
अगिया लागिय तन गइले हो, मोके किछु न सोहाय ।
पहिरेउ सुमति गहनवा हो, देहली कुमति उतारि ।
शब्द का माँग सँवारल हो, दुरमति बहवाइ ।
सीस महल चढ़ि बैठिला हो, जहाँ चोरवो न जाइ ।
शीवनराएन समरथ हो देखि काल डेराइ ।[2]

इन्हीं का एक छोटा-सा पद निम्नलिखित है। इसमें कबीर साहब की शैली में कहा गया है,

तनि एक मनुवाँ धरा तूँ धीर ।
पाँच सखी आइल मोरे अँगना, पाँचों के हथवा में पाँच-पाँच तीर ।
खँइचब गुन तब छोड़ब तीर, मुदाये मरन कर करो तदवीर ।
शीवनराएन चीन्हल बीर, जनम जनम कर मेटल पीर ।[3]

सत कबीर साहब संतों की परंपरा के आदि प्रवर्त्तक थे और उनका

---

[1]भक्तमाल, हस्तलिखित प्रति [2]शब्दावली, हस्तलिखित प्रति
[3]शब्दावली, ह० प्र०

प्रधान कार्यक्षेत्र काशी होने के कारण, उनकी बोली भोजपुरी का प्रभाव उनके नाम पर चलाये गये 'कबीरपंथ' तथा आस-पास के प्रदेश में प्रचलित संप्रदायों पर स्वभावतः ही पड़ा। उपर्युक्त संत कवियों का संबंध भोजपुरी के साथ प्रत्यक्ष रूप में भी रहा और उन्होंने उसी के बोलने वालों में पहले पहल अपना प्रचार भी आरंभ किया। किंतु उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी संत थे जिन्होंने अपना भोजपुरी प्रदेश से अलग रहते हुए भी इसे थोड़ा-बहुत ग्रहण किया। उदाहरण के लिए, मलूक-पंथ के प्रवर्तक संत मलूकदास तथा सतनामी संप्रदाय के अनुयायी संत दूलनदास की रचनाओं पर भी हमें कहीं-कहीं भोजपुरी बोली तथा उसमें प्रयुक्त वर्णन-शैली का प्रभाव प्रचुर मात्रा में दीख पड़ता है। इसके सिवाय संत तुलसी साहब जैसे कई कवियों ने भोजपुरी के कुछ प्रिय छंदों के प्रयोग किये हैं और कबीर-पंथ एवं शिवनारायणी संप्रदाय ने उनका दूर-दूर तक प्रचार भी किया है।

संत-काव्य में वीर रस

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह माना जाता है। उत्साह एक ऐसा भाव है जिसके जाग्रत होते ही हमारे सामने किसी भावी सुख का एक ऐसा मनोरम चित्र खिंच जाता है कि उसके द्वारा हम सर्वथा आकृष्ट होने लगते हैं। हमारे भीतर एक प्राणधारा-सी फूट निकलती है जो हमारे सर्वांग में पूर्णतः व्याप्त होकर हमें कार्यशील बना देती है। इसके कारण हममें एक अपूर्व क्षमता आ जाती है। हम उन कार्यों तक को करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं जो हमारे लिए कभी दुःसाध्य अथवा असंभव कहे जा सकते थे। हम अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए सभी प्रकार से एकनिष्ठ बन कर तुल पड़ते हैं और अपने मार्ग में आनेवाली विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए भी आगे बढ़ते चले जाते हैं। उस समय हम एक ऐसा साहस प्रदर्शित करते हैं जो स्वयं हमारे जीवन तक को भी पूरे संकट में डाल सकता है। इस कारण कभी-कभी अपने प्राणों को सचमुच तिलांजलि देनी पड़ जाती है। उत्साह नाम का यही स्थायी भाव काव्य-शास्त्र के अनुसार, उपयुक्त विभावों, अनुभावों तथा संचारी भावों के संयोग से वीर रस में परिणत होता है। इसका सबसे उत्कृष्ट उदाहरण हमें उन रचनाओं में मिलता है जिनमें युद्ध में निरत रहने वाले शूरवीरों की चर्चा रहा करती है। ऐसे उदाहरणों में वीर रस का आलंबन कोई शत्रु हुआ करता है, जिसके विविध कार्य कलाप एवं रणवाद्य आदि उद्दीपन का कार्य करते हैं। अनुभाव युद्ध संबंधी व्यापारों में दीख पड़ते हैं और नायक की धृति, मति, गर्व, रोमांच आदि इसके लिए संचारी भाव बन जाते हैं।[1] ऐसे नायकों को युद्ध वीर की संज्ञा दी जाती है।

---

[1] साहित्य दर्पण, परिच्छेद ३

परन्तु उत्साह के भाव रूप में अत्यंत व्यापक होने के कारण आचार्यों ने युद्ध वीर के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वीरों की भी कल्पना की है। तदनुसार 'साहित्य दर्पण' के रचयिता ने वीर रस के चार भेद बताये हैं और उसे क्रमशः दान, धर्म, युद्ध एवं दया के आधार पर विभाजित किया है। पंडितराज जगन्नाथ का यह कहना है कि 'ये चारों भेद उत्साह के चतुर्विध होने के कारण किये गये हैं। वास्तव में वीर रस के भी उसी प्रकार अनेक रूप हो सकते हैं जिस प्रकार शृंगार रस के। धर्मवीर में जिस प्रकार दानवीर और दयावीर का अंतर्भाव नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार उसमें सत्यवीर, क्षमावीर आदि का भी संमिलित कर दिया जाना उचित नहीं कहा जा सकता।'[1] श्री वियोगी हरि ने भी कदाचित् ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर 'शूर वीर' एवं 'युद्ध वीर' के उदाहरण पृथक्-पृथक् दिये हैं और नवीन 'विरह वीर' तक के गुणों को उदाहृत किया है। उनका कहना है "वीर रस का स्थायी भाव उत्साह, विशुद्ध विरह में, अच्छी मात्रा में पाया जाता है।"[2] वीरता का भाव वस्तुतः ऐसी अनेक बातों के साथ संबद्ध जान पड़ता है जो कई भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों में मिला करती हैं। साहस, धैर्य, दृढ़ता, उत्सर्ग, निर्भयता, आत्मविश्वास, एकांतनिष्ठा, निर्द्वंद्वता, एवं हृदय की सचाई आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो केवल युद्धवीरों की ही विशेषता नहीं मानी जा सकती। संतों, साधक एवं प्रेमी जनों में इनके गुण कभी-कभी इतनी मात्रा में पाये जाते हैं, जितने युद्ध वीरों में भी सर्वत्र संभव नहीं है। अतः कवि लोग इनका वर्णन जहाँ कहीं भी करते हैं, वहाँ स्वभावतः वैसे ही ओजपूर्ण शैली और भाषा का प्रयोग करते हैं, जिसमें युद्ध वीरों की चर्चा की जाती है।

संत साहित्य में प्रबंध काव्यों का प्रायः अभाव-सा है, जिस कारण उसमें ठीक उसी ढंग के उदाहरण नहीं मिलते जैसे महाकाव्यादि में पाये

---

[1]हिंदी रस गंगाधर, पृ० ११४। [2]वीर सतसई, पृ० २, १० और ८ (टि०)

जाते हैं। संतों ने अधिकतर फुटकर पद्यों की ही रचना की है। उनमें से जो काव्य की कोटि में आने योग्य हैं, वे अधिक से अधिक मुक्तक कहला सकते हैं। मुक्तक की परिभाषा देते हुए आचार्य अभिनव गुप्त ने बताया है कि 'मुक्तक उसे कहते हैं जिसका (किन्हीं अन्य पद्यों के साथ) पूर्वापर संबंध न हो, किंतु जिसके (आधार पर) रस चर्वणा अथवा रसास्वादन किया जा सके।'[1]

ऐसे संत काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता यह भी है कि वह अपने रचयिता के प्रायः निजी उद्गार के रूप में ही निर्मित हुआ पाया जाता है। वह उसकी स्वानुभूति पर आश्रित रहता है। इस कारण अन्य काव्यों की भाँति इसमें बाहरी उपकरणों को ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता भी नहीं पड़ती। यदि काव्य शृंगार रस का है तो उसके लिए प्रेमी नायक एवं प्रेमपात्री नायिका अथवा प्रेमिका नायिका तथा प्रेमपात्र नायक को कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं। संत कवि स्वयं प्रेमी या प्रेमिका बन जाता है और अपने घर में ही सदा वर्तमान प्रेमास्पद परमात्मा के प्रति प्रेमभाव व्यक्त करने लग जाता है। इसी प्रकार यह कवि वीर रस के काव्य की रचना करता है तो उस दशा में भी वह कहीं अन्यत्र दृष्टि डालना पसंद नहीं करता। यहाँ पर भी वह अपने मन को, इद्रियों को, काम क्रोधादि मनोविकारों को अपना लक्ष्य बना लेता है और उनसे भीषण संग्राम छेड़ देता है। इसके लिए इसे किसी रणक्षेत्र की आवश्यकता नहीं और न इसे उत्तेजित करने के लिए किन्हीं रणवाद्य आदि का विद्यमान रहना ही आवश्यक है। सभी उसके घट के भीतर प्रस्तुत हैं और इसे उनकी ओर केवल एक बार अपना ध्यान देने मात्र की ही देर है।

यह युद्ध बाह्य कारणों से प्रेरित होता हुआ भी बाहर के मैदान का

---

[1] **पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। हिंदी काव्यशास्त्र, पृ० १४ पर उद्धृत**

युद्ध नहीं, इस कारण हम उसे भीतरी युद्ध का नाम दे सकते हैं। इस युद्ध में न तो किसी अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता पड़ती है और न किसी के प्राण वा संपत्ति का कभी नाश ही हुआ करता है। इसमें किसी प्रकार से सुसज्जित होना भी आवश्यक नहीं है। इसके सभी व्यापार गुप्त ढंग से चलते हैं, किंतु इसके लिए किसी षड्यंत्र की युक्तियों का प्रयोग नहीं करना पड़ता। फिर भी इस युद्ध का परिणाम किसी व्यक्ति के जीवन के लिए बाहरी युद्ध की घटनाओं से किसी प्रकार भी कम निर्णयात्मक नहीं हुआ करता। बाहरी युद्ध का संकट उसमें भाग लेने वाले भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में बँट-सा जाता है और एक दूसरे को साथ में कष्ट पाता हुआ देखकर कुछ ढाढ़स भी बँध जाने का अवसर मिल जाया करता है, किंतु भीतरी युद्ध में केवल एक ही व्यक्ति को सारी वेदनाएँ सहनी पड़ती हैं और वह अकेला ही मरा-जिया करता है।

फिर भी इस भीतरी युद्ध का रूप उस अंतर्द्वंद्व का-सा नहीं होता जो बहुधा धर्म संकट के नाम से पुकारा जाता है। अंतर्द्वंद्व प्रायः प्रत्येक समझदार व्यक्ति के जीवन में कभी कभी न पहले एक साधारण भावना या विचार के रूप में होता है और क्रमशः तर्क-वितर्क का सहारा लेकर बढ़ता हुआ, अंत में, हमारे सामने एक विकट समस्या बन कर उपस्थित हो जाता है। हमारे जीवन में घटना क्रमानुसार कभी-कभी एक ऐसा अवसर आता है, जब हम सहसा इस बात का निर्णय नहीं कर पाते कि दो भिन्न-भिन्न कर्तव्यों में से किसका पालन करना अधिक श्रेयस्कर होगा। हम इस पर जितना ही सोचते हैं, इसकी गंभीरता बढ़ती जाती है और किसी दलदल में फँसे व्यक्ति की भाँति इसमें उलझते चले जाते हैं। उस समय हमारे सामने [illegible] बातें सुहावने रूप धारण करके आने लगती हैं। उनके आकर्षण की [illegible] में पड़ कर, हम अंत में, अपने को विवश और असहाय पाते हैं तथा हमारे ऊपर मोह-जाल का एक ऐसा घोर अंधकार छा जाता है कि हमें अपने मूल रूप का भी प्रत्यक्ष करना महा कठिन हो जाता है।

अंतर्द्वंद्व की दशा में हमारे चित्त की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ आपस में टकराने लगती हैं जिस कारण कभी-कभी प्रतीत होता है कि हम आगे की ओर बढ़ रहे हैं। किंतु दूसरे ही क्षण हमें ऐसा लगता है कि हम किसी पीछे की ओर कार्य करने वाले खिंचाव के द्वारा ही ग्रस्त हैं। समस्या की जटिलता के अनुसार यह द्वंद्व हमारे हृदय के कोने-कोने तक को रौंद डालता है और वह किसी युद्ध स्थल से भी भयानक लगने लगता है। उसमें एक हाहाकार-सा मच जाता है और इस संघर्ष की आग से झुलस कर हमारे कई सुंदर से सुंदर तक आदर्श उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार बम गोलों के आघात से बाहरी लड़ाइयों में कुसुमित उद्यान तथा भव्य अट्टालिकाएँ हमारे सामने विध्वंस हो जाती हैं। जिस समय राजा रामचंद्र रावण वध के अनंतर अयोध्या में राज कर रहे थे, किसी गुप्तचर ने आकर उन्हें उनकी रानी सीता के विषय में प्रचलित प्रवादों की सूचना दी। इस कारण कर्तव्यनिष्ठ एवं धर्म-परायण होने के नाते उन्हें एक ऐसे ही धर्म संकट का सामना करना पड़ गया। उस समय उन्हें एक ओर जहाँ अपने राजधर्म का उच्च आदर्श सीता-परित्याग की ओर उन्मुख कर रहा था वहाँ दूसरी ओर उनका पत्नी-प्रेम उस ओर से मुँह मोड़ने के लिए उभार रहा था। उनकी दशा परम बुद्धिमान एवं धैर्य शील होते हुए भी महाकवि कालि-दास के शब्दों में 'दोलाचल चित्त वृत्ति' की-सी हो गयी थी। राजा हरिश्चंद्र को काशी के श्मशान घाट पर तथा वीर अर्जुन को कुरुक्षेत्र के मैदान में भी प्रायः इसी प्रकार की समस्या ने विचलित कर उन्हें हतबुद्धि बना दिया था।

किंतु संतों का भीतरी युद्ध इस प्रकार किन्हीं भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों के पारस्परिक घात-प्रतिघातों से उत्पन्न नहीं होता। उनका आधार नैतिक न होकर आध्यात्मिक हुआ करता है और उसे समस्या मूलक न कह कर हम संकल्प मूलक ठहरा सकते हैं। जब कोई साधक अपने आध्यात्मिक जीवन का आरंभ करता है और अपने सद्गुरु के परा-

मर्श द्वारा अनुप्राणित होकर अपनी निकृष्ट चित्तवृत्तियों का दमन करने पर तुल जाता है, उसी समय इस प्रकार के भीतरी युद्ध का श्रीगणेश हुआ करता है। पूर्व संस्कारों के प्रभाव में निरंतर कार्य करने वाली इंद्रियाँ अपनी-अपनी शक्तियों के उपयोग में कभी चूकना नहीं जानतीं। उन्हें रोकने की लाख चेष्टा करने पर भी अनेक साधक प्रायः सफल नहीं हो पाते। उनकी वेगवती धारा, बहुमुखी जल प्रवाह की भाँति कोई न कोई मार्ग ढूँढ निकालने के लिए मचल पड़ती है। यत्किंचित् अवसर के भी मिलते ही इनके संपूर्ण मानसिक क्षेत्र को एक बार फिर आप्लावित कर देती है। फलतः उनके आध्यात्मिक विचारों के कोमल पौधे उसके सामने झुकने लग जाते हैं। उन्हें फिर से बल प्रदान करने के लिए साधक को बार-बार सत्संग की शरण में जाने को बाध्य होना पड़ता है। समस्या मूलक अंतर्द्वंद्व में किन्हीं दो कर्तव्यों की पारस्परिक मुठभेड़ का प्रश्न रहा करता है। वहाँ केवल उनके उचित मूल्यांकन की कठिनाई पड़ती है जो उन दोनों में से किसी को भी अधिक श्रेयस्कर मान कर उसे चुन लेने पर आप से आप दूर हो सकती है। किंतु संकल्प मूलक भीतरी युद्ध की कठिनाई उससे नितांत भिन्न प्रकार की होती है जो दृढ़ संकल्प वीर साधक के सदा सजग बने रहने पर भी कभी पूर्णतः दूर नहीं हो पाती। उसे ऐसे विकट शत्रुओं से लोहा लेना पड़ता है जो उस पर चतुर्दिक से प्रहार करते रहते हैं और जो पराजय स्वीकार करने का नाम तक नहीं लेते।

इस युद्ध का रूप इतना विकराल होता है कि इसके सामने किसी बाहरी समर में विजय प्राप्त करना एक साधारण-सी बात मानी जायेगी। यह किसी अवधि की अपेक्षा करके आजीवन चला करता है। इस संघर्ष में अंतर्मुखी वृत्तियों की जटिलता विशेष कष्टप्रद सिद्ध होती है। इसमें मरना भी एक ही बार का न होकर बार-बार हुआ करता है। इसमें नष्ट होने वाली संपत्ति भी स्थूल न होकर अत्यंत सूक्ष्म भावों की बनी रहती है। इसी कारण कहीं अधिक ममता से सनी रहा करती है और

उसके विनाश द्वारा उत्पन्न वेदना भी अत्यंत मार्मिक होती है। वास्तव में संत कवियों के विचार से शूरवीर की परिभाषा ही कुछ और है। उसकी विशेषताओं से परिचित हो लेना अत्यत आवश्यक है। संत चरनदास कहते हैं,

> सोई जन सूर जो खेत में भिड़ि रहै,
> भक्ति मैदान में रहे ठाड़ा।
> सकल लज्जा तजै महा निरभय गजै,
> पैज नीसान जिन आय गाड़ा[1] ॥१॥

अर्थात् शूरवीर उसे कहते हैं जो संग्राम में जा भिड़ता है और भक्ति के मैदान में डटा रह जाता है; वह सारी लोक लज्जा को तिलांजलि दे देता है; निर्भयता के साथ लगा रहता है और अपनी टेक या दृढ़ संकल्प का झंडा जा गाड़ता है। इस बात को संत पलटू साहब ने और भी अधिक स्पष्ट किया है। वे कहते हैं,

> होय रजपूत सो चढ़े मैदान पर, खेत पर पाँच पच्चीस मारै।
> काम और क्रोध दुई दुष्ट ये बड़े हैं, ज्ञान के धनुष से इन्हें टारै॥
> कूद परि जाइ कै कोट काया मँहै, आगि लगाय कै मोह जारै।
> दास पलटू कहै सोई रजपूत है, लेहि मन जीति तब आपु हारै[2] ॥२१॥

अर्थात् जो सच्चा राजपूत या शूरवीर होता है, वह मैदान में इंद्रियादि को पछाड़ता है और काम क्रोधादि को ज्ञान के धनुष द्वारा दूर फेंक देता है। वह अपनी काया के दुर्गम कोट में कूद पड़ता है, मोह को जला देता है और मन पर विजय प्राप्त करके अपने आपको हार भी जाता है। कबीर साहब ने भी अपनी साखी में इस बात की ओर संकेत किया है,

> कबीर सोई सूरिवां मन सूं माँडै झूझ।

---

[1] चरनदास की बानी, पहिला भाग, पृ० ४२

[2] पलटू साहब की बानी, दूसरा भाग, पृ० १४

पंच पयादा पाडिले दूरि करै सब दूज[1] ॥३॥

अर्थात् शूरवीर वह है जो मन के साथ संग्राम छेड़ता है, पंचेंद्रियों को पछाड़ देता है और आपे को खोकर अद्वैत भाव प्राप्त कर लेता है। इसके सिवाय इसी बात को अन्यत्र इस प्रकार भी कहा गया है,

तीर तुपक से जो लड़ै सोतो सूर न होय।
माया तजि भक्ती करै, सूर कहावै सोय॥[2]

अर्थात् अस्त्रशास्त्रादि वाह्य साधनों से सुसज्जित होकर लड़ने वाले को वास्तविक सूर नहीं कहा जा सकता। सच्चा शूरवीर वही कहला सकता है जो माया से अप्रभावित रहकर भक्ति में निरत रहे।

संत कवियों ने इस प्रकार के शूरवीर का परिचय कतिपय अन्य लक्षणों के द्वारा देने की भी चेष्टा की है। ये लक्षण साधारणतः सभी प्रकार के युद्ध वीरों में पाये जा सकते हैं। किंतु संतों के आदर्श वीरों में ये विशेष रूप से उपयुक्त ठहरते हैं। सबसे विलक्षण बात जो इन शूर वीरों में दीख पड़ती है, वह यह है कि वे केवल सामने पड़े हुए शत्रु से युद्ध नहीं किया करते प्रत्युत चारों ओर से आक्रमण करने वालों से एक साथ लड़ा करते हैं।

सूरा झूझै गिरद सूँ, इक दिसि सूर न होइ
कबीर यौं बिन सूरिवाँ, भलान कहि सी कोइ[3] ॥४॥

अर्थात् ऐसे शूरवीर को अपने ऊपर एक साथ प्रहार करने वाली सभी इंद्रियों से लड़ना पड़ता है जो इसे चारों ओर से आ घेरती है। यह उन सभी की चोटों को सम्हालता है और उनका उत्तर देता है तभी सच्चा वीर कहलाने योग्य होता है। इस वीर का एक दूसरा लक्षण यह है कि ऐसे युद्ध में एक बार लग जाने पर यह फिर मैदान से पीछे पैर हटाने का नाम नहीं लेता और प्राणों को हथेली पर लेकर वहीं जूझ मरता है।

---

[1]कबीर ग्रंथावली, पृ० ६८

[2]साखी संग्रह, पृ० २७ [3]कबीर ग्रंथावली, पृ० ६८

खेत न छाड़ै सूरिवाँ झूझै है दल माहिं ।
आसा जीवन मरण की मन में आँणै नाहिं[1] ॥१३॥

और इसी प्रकार इस वीर का एक तीसरा लक्षण यह भी है कि कभी यह डींग नहीं हाँकना। इसके रण-कौशल का पता आपसे आप चल जाता है। जब इसकी वीरता इसके दमकते हुए चेहरे से प्रकाश के रूप में झलकने लगती है। इसे कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। रण-क्षेत्र में प्रवेश कर केवल बढ़-बढ़ कर बातें करना किसी कायर का काम है। एक सच्चे वीर को यह शोभा नहीं देता।

कायर बहुत पमावहीं वह किन बोलै सूर ।
काम पड्या ही जानिए, किसके मुख परि नूर[2] ॥१४॥

संत चरनदास ऐसे शूरवीर का लक्षण बताते हुए उनमें प्रमुख स्थान इसकी दृढ़ टेक वा दृढ़ संकल्प को दिया है और तब अन्य बातों की चर्चा की है; जैसे,

साधू पै जग है सोइ सूरा ।
वाके मुख पर नूर है जब बाजै मारु तूरा ॥१॥
या बाने का नेम यही है पग धरि फिरि न उठावै ।
जो कुछ होय सो आगेहि आगे आगे ही को धावै ॥२॥
रन में पैठि झड़ा झड़ि खेलै सम्मुख सस्तर खावै ।
खेत न छाड़ै वहंई जूझै तब ही सोभा पावै[3] ॥४॥ इत्यादि

अतएव संत काव्य की वीर रस वाली रचनाओं में विशुद्ध युद्ध वीर के उदाहरण मिल सकते हैं। इनमें आश्रय स्वयं उनका कवि अथवा कोई साधन होगा। आलम्बन का स्थान उसकी इंद्रियाँ अथवा उसके मनोविकार ग्रहण करेंगे तथा उद्दीपन का काम यहाँ अनाहत शब्द, सत्संग अथवा वे उपदेश देंगे जिन्हें उसके सद्गुरु उसे समय पर सचेत और सावधान

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० ६६ [2] वही, पृ० ६६
[3] चरन दास जी की बानी, १ भा०, पृ० ८७६

बने रहने के लिए देते रहते हैं। इसी प्रकार अनुभवों के रूप में संत कवि या साधक की वे चेष्टाएँ दीख पड़ेंगी, जिन्हें वह आत्मसंयम के प्रयत्न में प्रकट किया करता है। ये स्वभावतः स्वेद, रोमांच, वैवर्ण्य, अथवा अंग स्फुरण आदि के रूपों में न होकर, अधिकतर मानसिक ही हुआ करती हैं। इन रचनाओं में हमें कभी-कभी कतिपय संचारी भावों के भी दर्शन होंगे जो प्रायः धृति, मति, तर्क, स्मृति, संतोष, हर्ष, तत्परता आदि के द्वारा काम करते हैं। इनमें ओजगुण, परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति के भी पर्याप्त उदाहरण मिल सकते जिनसे स्पष्ट होता है कि इनका वीररस के साथ संबंध है। किंतु संत कवियों की ऐसी पंक्तियों में उपलब्ध उपर्युक्त लक्षणों को हम सर्वत्र शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से पूर्ण मान्यता नहीं दे सकते और न उसकी रूढ़िगत शास्त्रीय पद्धति की कसौटी पर उन्हें भली भांति परख ही सकते हैं। संत कवियों की रचनाएँ उनकी निजी अनुभूति पर आश्रित रहती हैं और वे बहुधा उस अवसर पर निर्मित की गयी कही जा सकती हैं, वे उक्त भावों द्वारा वस्तुतः अभिभूत थे। फलतः ऐसी पंक्तियाँ उनके मुख से आप से आप निकली हुई भी हो सकती हैं। इनमें निपुण कवियों के काव्य-कौशल का चमत्कार भले ही न मिल सके, सच्चे हृदय के अल्हड़पन का सौंदर्य अवश्य पाया जा सकता है। वास्तव में इनकी एक अपनी प्राचीन परंपरा है।

संत काव्य की वीर रस संबंधी रचनाओं में आलंबन कोई शरीर-धारी व्यक्ति नहीं हुआ करता और न उनमें प्रदर्शित शृंगार सम्बंधी चेष्टाएँ ही ऐसी होती हैं जिनका वर्णन वास्तविक युद्ध व्यापारों की भाँति किया जा सकता है। युद्ध वीर जिसे इस विचित्र संग्राम में भाग लेना पड़ता है, वह उन साधनों से संपन्न भी नहीं हुआ करता जिनकी साधारण रणभूमि से बीच आवश्यकता पड़ा करती है। वास्तव में इस युद्ध की जितनी भी बातें होती हैं वे केवल साधारण युद्ध की अनुधर्मता (Analogy) पर ही बतायी जाती है।

अतएव संत कवियों ने इसके लिए अधिकतर रूपकों का सहारा

लिया है और आलकारिक शैली में उनका वर्णन भी किया है। जैसे,

गगन दमामा बाजिया, पड्या निसानैं घाव।
खेत बुहार्‌या सूरिवैं, मुझ मरणे का चाव[१] ॥६॥

अर्थात् घट के भीतर शून्य स्तर पर अनाहत नाद सुन पड़ा जैसे किसी युद्ध के नगाड़े का शब्द हो और अजपा जाप का क्रम इस प्रकार चलने लगा जैसे उसी अवसर पर बजने वाले धौंसे के ऊपर चोटें पड़ रही हैं। उत्साही साधक के लिए ये उत्तेजित करने को पर्याप्त हैं। वह इंद्रियादि के साथ युद्ध लड़ने के लिए सन्नद्ध होकर इस भाव के साथ सामने आ गया कि उसको जूझने के लिए अब इससे बढ़ कर अवसर नहीं मिलेगा। यहाँ पर वीर रस के आश्रय साधक वा शूरवीर के लिए अनाहत का नाद उद्दीपन का काम करता है और उसका आ डटना अनुभाव है।

इस प्रकार साधक वीर सन्नद्ध होकर रणक्षेत्र में आ डटने वाले अपने शत्रु मन के दलवाले क्रोधादि को मार कर तथा स्वयं, उसे भी पकड़ कर ज्ञान द्वारा बाँध देने तथा क्षमा की ढाल के सहारे कायागढ़ पर पूरीविजय प्राप्त करने का वर्णन संत पलटू साहब ने भी किया है। वे कहते हैं,

खैंचि समसेर तब पैठु रन में रमैं करै ना देर सोइ साध बंका।
कामदल जारि कै क्रोध को मारिकै, रहै निरसंक ना करै संका ॥
पकरि मन राव को ज्ञान से जकरि कै छिमा दे डाल गढ़ तेल लंका।
दास पलटू करै सुन्न में बास तब गैब घर बैठि के देत डंका[२] ॥३२॥

संत कबीर साहब ने भी अपने एक पद में कायागढ़ पर पूर्ण विजय प्राप्त करने का रूपक इस प्रकार बाँधा है।

प्रेम पलीता सुरति हवाई गोला गिआनु चलाइआ।
वह भी अगनि सहजे परजाली एकहि चोट सिझाइवा ॥४॥

---

[१] कबीर ग्रंथावली, पृ० ६८

[२] पलटू साहब की बानी, भाग २, पृ० १४-५

सतु संतोखु लै लरने लागा, तोरे दुइ दरवाजा।
साधु संगति अरु गुरु की कृपाते पकरिओ गढ़ को राजा ॥५॥
भगवत भीरि सकति सिमरन की कटी काल कै फाँसी।
दास कबीरु चढ़िओ गढ़ि ऊपरि राजु लिओ अबिनासी[1] ॥६॥

अर्थात् मैंने प्रेम को पलीता बना कर सुरति की हवाई तोप से ज्ञान का गोला चलाया और ब्रह्म ज्ञान की अग्नि को 'सहज' द्वारा जला कर एक ही आक्रमण में उस दुर्ग को उससे गला दिया। सत्य एवं संतोष को साधन बना कर मैं तब लड़ने लगा। मैंने पाप तथा पुण्य के दोनों दरवाजों को तोड़ डाला और सत्संग एवं सद्गुरु की कृपा के सहारे गढ़ के राजा मन को पकड़ लिया। भगवान के भय तथा नामस्मरण की शक्ति से मृत्यु की फाँसी से मुक्त हो गया और गढ़ के ऊपर अधिकार प्राप्त कर अमरत्व का राज ले लिया।

उपर्युक्त दोनों पदों में इंद्रियों के अगुआ मन को वश में करने तथा इस प्रकार कायागढ़ पर शासन करने और अमर बन जाने का रूपक है। संत पलटू साहब ने इसे साधन से संपन्न होकर रणक्षेत्र में कूद पड़ने से आरंभ किया है। फिर काम एवं क्रोध की सेना को नष्ट करके मन राजा को बंदी बनाने आदि, अंत में, काया दुर्ग पर अधिकार जमा लेने का वर्णन किया है। किंतु संत कबीर साहब ने इसे और विस्तार दिया है। वे प्रेम की रंजक द्वारा सुरति को जाग्रत कर तब उसके माध्यम से ज्ञान का गोला फेंकते हैं। फिर सहज साधना से ब्रह्माग्नि को प्रज्वलित कर सारी काया को बिना किसी विलंब के ही उससे व्याप्त बना देते हैं। ऐसी दशा में उनके लिए कार्य सरल हो जाता है। वे केवल सत्य एवं संतोष के बल पर लड़ते हुए पाप एवं पुण्य की कृत्रिम मर्यादा को अनावश्यक बना देते हैं। साधुओं के सत्संग एवं सद्गुरु कृपा की प्रेरणा से उन्हें मन जैसे बली राजा को भी विवश करते देर नहीं लगती। फिर तो उन्हें

---

[1] **आदि ग्रंथ, पृ० ११६२-३ राग भैरउ**

आगे कुछ करने को नहीं रह जाता और वे अपनी काया की साधना समाप्त कर अमर बन जाते हैं। संत पलटू साहब के शून्यवास की सिद्धि भी यही है।

संत कवियों की ऐसी वीर रस वाली रचनाओं की एक विशेषता यह जान पड़ती है कि इनमें सत्य, शील, क्षमा, प्रेम, ज्ञान आदि उन बातों की भी चर्चा की गयी मिलती है। इनके वर्णन की आवश्यकता शांत एवं शृंगार रसों में पड़ा करती है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इन दोनों ही रसों को वीर रस का विरोधी बताया है, जिस कारण यह इन कविताओं का दोष भी कहा जा सकता है। परंतु संतों की निराली दृष्टि के अनुसार, उनके युद्ध वीरों का पूर्ण शांत एवं एकांतनिष्ठ प्रेमी भी होना नितांत आवश्यक है। वे एक ऐसी विचित्र स्थिति की ओर लक्ष्य करते हैं कि जिसे उपलब्ध करने वाले के सामने विरोधी वा सहायक रसों का प्रश्न से निरर्थक है। संतों की कविताओं में हमें उस विरह वीर के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं जिसकी ओर श्री वियोगीहरि ने भी संकेत किया है। संत कबीर साहब ने बार-बार बताया है कि प्रेम के लिए अपना 'सिर सौंपना' कोई बड़ी बात नहीं और 'भगति' को भी उन्होंने 'दुहेली' ही ठहराया है तथा "साध सती अरु सूर का, अणी उपिला खेल[1]" कह कर इन तीनों के कार्यों को एक समान कठिन सिद्ध किया है। फिर भी,

साधका खेल तो विकट बेड़ा आती, सती औ सूर की चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो चार का, सती घमसान पल एक लागे॥
साध संग्राम है रैन दिन जूझना, देह पर्जन्त का काम भाई।
कहै कबीर टूक बाग ढीली करै, उलटि मन गगन से जमी आई[2]॥४६॥

अर्थात् शूरवीर एवं सती की अपेक्षा साधक का खेल कहीं अधिक भयंकर है। सती और शूर वीर को जहाँ किसी निश्चित अवधि तक ही

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० १००

[2] कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी और रेखते, पृ० ३०

संग्राम करना और वार झेलना पड़ता है वहाँ साधक को अपने जीवन पर्यंत जूझना पड़ता है। इसके सिवाय इसमें एक खतरा और होता है कि जहाँ अपने प्रयत्नों में थोड़ा-सा भी ढीलापन आया कि फिर साधक का कहीं ठिकाना ही नहीं लगता। संत काव्य में वीर रस की रचनाएँ अधिक संख्या में नहीं मिलतीं। किंतु जो मिलती हैं, उनका मूल्यांकन करते समय, यदि उपर्युक्त सभी बातों पर विचार न किया जाय, तो उनके प्रति भ्रमवश अन्याय हो जाने की आशंका रहती है।

RAMAKRISHNA MISSION LIBRARY
MUTHIGANJ ALLAHABAD

संतों का निर्वैर धर्म

योरप द्वारा प्रचलित किये गये विकासवाद के सिद्धांतों से हमें पता चलता है कि सृष्टि के क्रमिक विकास का रहस्य उसके विविध अंगों के पारस्परिक संघर्ष में ही निहित है और एक के क्रमोत्कर्ष से दूसरे का अपकर्ष होना अनिवार्य-सा है। इस विचारधारा के अनुसार एक प्राणि-वर्ग दूसरे को अपनी क्रमोन्नति की सीढ़ी बना कर ही आगे बढ़ता है और एक के जीवन में वृद्धि तभी संभव है जब दूसरे का विनाश हो। हम बराबर देखते आते हैं कि वनस्पति वर्ग के प्राणी अधिकतर खनिज पदार्थों पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं, पशु-वर्ग का प्रधान खाद्य वनस्पतियाँ बन जाती हैं, जलचर तथा वनचर प्राणियो का जीवन बहुधा कीटों, पतंगों पर आश्रित रहा करता है और सृष्टि का सबसे विकसित अंग मानव वर्ग अपने जीवन एवं उत्कर्ष के लिए उक्त सभी प्राणियों वा पदार्थों को अपना साधन बना लिया करता है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' सृष्टि का एक अटल तथा व्यापक नियम है जिसकी उपेक्षा किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती। अतएव हमें चाहिए कि मानव वर्ग से भी आगे आने वाले अतिमानव (Superman) के स्वागतार्थ अपनी भौतिक शक्ति के संचय का प्रयास उत्तरोत्तर करते चलें और शक्ति उपलब्ध करने के अपने संकल्प (Will to power) को अपने लिए मूल मंत्र मान कर ही किसी प्रश्न पर विचार करें।

योरप एवं अमेरिका जैसे देशों ने उक्त प्रकार की भावनाओं द्वारा प्रभावित होकर अनेक यंत्रों के आविष्कार किये और वाणिज्य अथवा व्यवसाय की उन्नति के पथ पर अग्रसर होते हुए उन्होंने राजनैतिक संघर्ष को प्रश्रय दिया। उनकी ऐसी भौतिक उन्नति की आभा से आकृष्ट होकर अन्य देशों ने भी उनका अनुसरण किया। परिणाम स्वरूप एक ऐसी संस्कृति का

क्रमशः निर्माण होने लगा जिस कारण अनेक युद्धों वा महायुद्धों तक की आवश्यकता पड़ती गई और धीरे-धीरे सारा विश्व ही नैतिक पतन की ओर उन्मुख होता गया। विकासवाद के उक्त सिद्धांतों के भीतर विश्व की एकता का भाव निरंतर वर्तमान रहा और उनके आदर्शों पर चलने वालों में, क्रमिक विकास के उत्साह वर्धक नियमों के प्रति आस्था भी बनी रही। फिर भी उन्होंने उक्त एकता के अंतर्गत लक्षित होनेवाली अनेकता की ही ओर अधिक ध्यान दिया और भिन्न भिन्न वर्गों को एक स्तर से दूसरे तक पहुँचाने वाले उनके आभ्यंतरिक गुणों को कुछ भी महत्त्व न देकर उसका सारा श्रेय केवल उस पारस्परिक होड़ को ही दे डाला। जिन बातों के कारण हमें एक वर्ग को दूसरे से विकसित मानना पड़ता है उनकी उन्होंने उपेक्षा कर दी और केवल बाहरी व्यापार मात्र को प्रधान कारण मान लिया। यह एक साधारण अनुभव की बात है कि खनिज पदार्थों से वनस्पति वर्ग कई बातों में बढ़ कर है। इसी प्रकार क्रमशः वनस्पति से जलचर, नभचर एव पशुवर्ग तथा मानव भी एक दूसरे से, कुछ ऐसे गुणों के कारण, श्रेष्ठतर सिद्ध होते हैं जो कोई संघर्ष के ही परिणाम नहीं कहे जा सकते। उदाहरण के लिए साहचर्य, आत्मीयता एवं पारस्परिक सहायता की प्रवृत्ति जो अनेक पशु-पक्षियों तथा कभी-कभी क्षुद्र जंतुओं तक में लक्षित होती हैं वह केवल संघर्षजन्य ही नहीं कहला सकती और न इसी प्रकार मानव वर्ग के प्रेम, दया, दाक्षिण्य, सौहार्द तथा संतोष जैसे गुणों का संघर्ष की स्थिति में कभी प्रदर्शन भी किया जा सकता है। संघर्ष की दशा में काम करने वाली तो वे ही प्रवृत्तियाँ समझी जा सकती हैं जिनका संबंध लोभ, मोह, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार आदि के भावों से रहता है और जो इसी कारण, उन गुणों की भाँति रागजनित न होकर द्वेष वा अलगाव के कारण उत्पन्न हुआ करती हैं।

विकासवाद के सिद्धांत बड़ी खोज एवं गवेषणा के अनंतर स्थिर किये गये थे और उन्हें विविध उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया था। उनकी आधारभूत विचारधारा को विज्ञान, इतिहास, ज्योतिष, आदि की कसौ-

टियों पर जाँच भी लिया गया था। फिर भी उक्त वाद के प्रमुख आचार्य स्वयं डार्विन साहब को भी यह स्वीकार करना पड़ा था कि दया, दानादि नैतिक गुणों के अस्तित्व का पूरा समाधान उनके द्वारा निर्दिष्ट जीवन-संग्राम के सिद्धांतों के सहारे नहीं किया जा सकता। स्पेंसर ने भी आगे चल कर यही बतलाया कि इस प्रकार के नैतिक गुणों के उदय तथा विकास की कहानी रहस्यमय है और वह केवल प्रकृति को ही पूर्णतः विदित होगी। इसके सिवाय एक अन्य विकासवादी हक्सले साहब ने इसके स्पष्टीकरण में यहाँ तक सिद्ध करना चाहा कि मानव समाज के भीतर प्रचलित प्रायः सभी नैतिक नियम प्राकृतिक नियमों के सर्वथा प्रतिकूल पड़ते हैं और इनकी ओर से सदा सतर्क रहना चाहिए। फिर भी नित्शे जैसे कुछ विचारक अपनी ठेठ विकासवाद की धारणाओं पर ही अड़े रह गये। इन्होंने ही उधर के लोगों को सबसे अधिक प्रभावित कर उन बार्बरिक कृत्यों के लिए क्षेत्र तैयार कर दिया जिनकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। प्रिंस क्रोपाट्किन ने जीवन संग्राम की कटुता के स्थान पर अपने पारस्परिक साहाय्य (Mutual aid) संबंधी नियमों का सद्भाव अवश्य रखना चाहा और उसे अनेकानेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध भी किया। किंतु इस ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया।

जीवन-संग्राम को इतना अधिक महत्व देने और इसे मानव विकास को अग्रसर करने वाली शक्ति तक का पद प्रदान करने वालों का कहना है कि इसकी प्रवृत्ति हमें अपने समाज के आदिकाल से ही लक्षित होती है। जीवन-संघर्ष ने न केवल हमसे अपने से दुर्बलों तथा निर्बलों पर विजय करा कर हमारे लिए विकास का क्षेत्र निर्माण किया है, प्रत्युत इसी के द्वारा प्रेरित होकर हमने अपने लिए नवीन प्रदेशों की खोज की है। नये-नये आविष्कार किये हैं तथा ऐसे-ऐसे साधनों की रचना कर डाली है जो हमारी नित्यशः बढ़ती जाने वाली जनसंख्या की स्थिति में भी हमें किसी अभाव का अनुभव नहीं करने देते। जीवन-संग्राम के लिए प्रयत्न करते-करते ही हमने अपने लिए सुंदर एवं विशाल निवास स्थान बना लिए हैं।

भिन्न-भिन्न प्रकार के सुस्वादु भोज्य पदार्थों को तैयार करना जान लिया है। देश काल के विस्तार को संकुचित कर अपना कार्य यथाशीघ्र संपन्न करने का प्रबंध कर लिया है। अपने उपार्जित वैभव के साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की व्यवस्था भी कर डाली है। जीवन-संग्राम ने पहले हमें अपनी रक्षा तथा विस्तार के लिए प्रेरित किया था और वही आज हमें अपने सुख के साधन जुटाने तथा उनकी सहायता से अपनी सभ्यता निर्माण करने में भी सहायक हो रहा है। अतएव जीवन-संग्राम की प्रवृत्ति न केवल हमें उत्तेजित करती है, बल्कि हमें सुख की ओर भी ले जाती है।

परंतु जीवन-संग्राम हमें जिस सुख की ओर ले जाता है वह क्या कभी दुःखों से अमिश्रित रहा करता है? क्या छीना-झपटी द्वारा प्राप्त की गई वस्तु के फिर उसी प्रकार हाथ से चले भी जाने की आशंका नहीं बनी रहती? फिर, क्या आत्मरक्षा एवं आत्मप्रसार जिनके लिए हम जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होते हैं केवल घोर संघर्ष के बल पर ही साध्य है? क्या आत्म-रक्षा कोरी पाशवी शक्ति पर ही निर्भर है, उसके लिए विविध प्रकार की परिस्थितियाँ भी नहीं अपेक्षित हुआ करतीं? आत्म-प्रसार के मूल में तो एक प्रकार के उत्सर्ग की ही भावना काम करती है जो हमें अपने को एक से अधिक देखने के लिए उदार बन जाने को विवश कर देती है। यह सच है कि मानव समाज के अविकसित रूप में हमें इस प्रकार की बातें स्पष्ट नहीं दीख पड़तीं और आत्मरक्षा एवं आत्म-प्रसार के निमित्त किए गये वाह्य प्रयत्नों की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है। किंतु इनके अस्तित्व को न मानने का कोई भी कारण नहीं। ये बातें प्रकृति के अंतर्गत बीज रूप में सदा से विद्यमान रहती आई हैं और इनका विकास भी हुआ करता है। आत्म-रक्षा की भावना ने एक को दूसरे के साथ संमिलित होकर रहने की ओर आप से आप प्रवृत्त किया होगा। आत्मप्रसार की प्रवृत्ति ने भी, उसी प्रकार एक को अधिका-धिक 'अपना' उत्पन्न करने के कार्य में लगाया होगा। ज्यों-ज्यों मानव-

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण में उनका अपना ही हाथ था। वह कभी झिझके नहीं, कभी झुके नहीं, कभी अटके नहीं, कभी भटके नहीं। वह अपनी साधना, अपने विश्वासों और अपनी अनुभूतियों में बराबर आगे बढ़ते रहे और एक दिन वह आया जब वह अपने मार्ग की अनेक कठिनाइयों को दूर कर बंधन-मुक्त हो गये। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है कि 'हज़ार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नहीं उत्पन्न हुआ।'

कबीर का महत्व

कबीर संधि-काल के विचारक और समीक्षक थे। उनका समय दो परस्पर विरोधी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के संघर्ष का युग था। विजेता के रूप में आए हुए मुसलमान विजित हिन्दुओं के साथ जीवन के किसी भी क्षेत्र में समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। हिन्दू अपना सब कुछ देकर भी अपनी सभ्यता और संस्कृत की रक्षा करने पर डटे हुए थे। ऐसी दशा में संघर्ष होना स्वभाविक ही था। इस संघर्ष का प्रभाव तत्कालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक तथा धार्मिक—पर पड़ रहा था और उनके दुखद परिणाम स्पष्ट होते जा रहे थे। साथ ही यह भी स्पष्ट होता जारहा था कि यदि विजेताओं को विजितों के साथ इसी देश में जमकर रहना है तो उन्हें यहाँ के जीवन-सिद्धान्तों के साथ किसी-न-किसी रूप में समझौता करना ही होगा। समझौते की यह भावना उच्च स्तर के लोगों की अपेक्षा निम्न अथवा अशिक्षित स्तर के लोगों में विशेष रूप से पनप रही थी। वे शान्तिपूर्वक रहकर अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहते थे। यह थी उस समय की प्रथम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या !

उपर्युक्त समस्या से ही संबंधित तत्कालीन भारतीय समाज की एक दूसरी समस्या भी थी। इस समस्या का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था से और गौणतः विदेशी जातियों से था। हिन्दू-सामाजिक व्यवस्था के जो दो स्तंभ—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्म—माने जाते हैं उनका आदि रूप निस्सन्देह आकर्षक, गतिशील और कल्याणकारी था, परन्तु समय के प्रभाव से

उनमें भी ऐसे दोष आ गए थे जिनके कारण हिन्दू समाज की एकता ही खतरे में पड़ गयी थी। वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच, छूत-अछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण की अकल्याणकारी भावनाओं से पूरित थी। इसी प्रकार आश्रम-धर्म भी निर्जीव हो रहा था। महात्मा गौतम बुद्ध ने इन दोनों स्तंभों के रूढ़ि-ग्रस्त रूपों को गति देने की चेष्टा की थी, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। क्यों? इसलिए कि वर्ण-व्यवस्था और आश्रम धर्म की जड़ें इतनी दृढ़ और समाज की मानसिक भाव-भूमि में इतनी गहरी धंसी हुई हैं कि उनका उन्मूलन किसी एक के बल-बूते का काम नहीं है। गौतम बुद्ध चले थे वर्ण-व्यवस्था का अन्त करने, परन्तु वह उसका अन्त करने के स्थान पर एक नई जाति को ही जन्म दे गये। यह उनके धर्म के स्वरूप का ही दोष था। बुद्ध धर्म एक प्रकार से भिक्षुओं का धर्म था। भिक्षुओं ने लोक-जीवन में रहकर जाति-भेद की व्यर्थता का लौकिक उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया। बौद्ध-श्रमण भी जाति-बन्धन से मुक्त होकर उसकी व्यर्थता पर आघात न कर सके। इस प्रकार के जाति-बन्धन-विरोधी आन्दोलन आगे भी हुए, परन्तु उनके सबके साथ भी यही विडम्बना थी। ऐसी विडम्बना के फलस्वरूप जाति-बन्धन शिथिल होने के स्थान पर और भी रूढ़ि-ग्रस्त होते जा रहे थे। कबीर के समय में तो उनके रूढ़ि-ग्रस्त होने के और भी कारण प्रस्तुत हो गए थे। शक, हूण, ग्रीक, कुशन, सिथियन आदि जो भी विदेशी बर्बर जातियाँ भारत में आयी थीं, उनकी सांस्कृतिक स्थिति नगण्य थी। इसलिए कालान्तर में वे भारतीय जन-समूह का अंग बन गयीं। इस्लामी सभ्यता उच्च कोटि की सभ्यता थी। आर्य-संस्कृति के लिए उसको पचाना सरल काम नहीं था। उसमें दो विशेषताएँ थीं—एक तो जातीय भ्रातृ-भाव और दूसरी सामूहिक साधना। उसकी इन्हीं दोनों विशेषताओं का ओर वर्ण-व्यवस्था से पीड़ित और आश्रम-धर्म से ऊबे हुए लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसी दशा में वर्णाश्रम-धर्म के बंधन शिथिल न होकर और भी जकड़ गए। इस्लाम की भी कुछ ऐसी ही दशा हुई। उसने जिस बर्बता से संसार के अन्य देशों में सफलता प्राप्त की थी वह भारतीय अहिंसात्मक प्रवृत्ति के सामने कुंठित हो गयी। अपने धार्मिक सिद्धान्तों के

प्रचार में उसे अपनी बर्बरता पर ही विश्वास था। भारतीय वातावरण में उसका वह विश्वास जाता रहा और वह भी धीरे-धीरे रूढ़ि-ग्रस्त हो गया— इतना रूढ़िग्रस्त हो गया कि उसमें भी दो दल हो गए। इनमें से एक दल था उन मुसलमानों का जिनमें विशुद्ध तुर्की अथवा अरबी रक्त था और दूसरा दल था उन नए मुसलमानों का जिन्होंने वर्णाश्रम-धर्म की जटिलता से ऊबकर इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। भारत की तत्कालीन इस्लामी राजनीति में इन दोनों दलों ने पूरा भाग लिया था और सच पूछिए तो यही भारत की इस्लामी सल्तन्तों के विनाश का कारण हुआ। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं से त्रस्त एवं पीड़ित थे। अतएव आवश्यकता थी ऐसी सामाजिक व्यवस्था की जो एक ओर तो दोनों को रूढ़ियों से मुक्त कर दे और दूसरी ओर उनमें भ्रातृ-भाव का संचार करे।

एक तीसरी समस्या भी थी और वह थी तत्कालीन भारतीय साधना-पद्धतियों को रूढ़ि-मुक्त करना। हम बता चुके हैं कि कबीर के समय में (१) सगुण भक्ति के अन्तर्गत वैष्णव, शैव तथा शाक्त सम्प्रदाय, (२) निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत हिन्दू-संत, एकेश्वरवादी मुसलमान तथा प्रेम-मार्गी सूफी (३) बौद्धों का सहजयानी सम्प्रदाय तथा (४) नाथ-पंथी सम्प्रदाय की धूम थी। इस्लाम-धर्म में दो दल थे—एक तो था कट्टर एकेश्वरवादी मुसलमानों का दूसरा था सूफी-मतवालों का। कट्टर एकेश्वरवादी शिया और सुन्नी में विभाजित थे। सूफी-सम्प्रदाय के लोग कट्टर एकेश्वरवादी मुल्लाओं के साथ नहीं थे। उन्हें बल था सात्विक वृत्ति के मुसलमानों का, परन्तु यह लोग भी कई सम्प्रदायों में विभक्त थे। कबीर के समय में इन सम्प्रदायों की संख्या लगभग १४ तक पहुँच चुकी थी जिनमें चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, क़ादरी सम्प्रदाय और नक़शबन्दी सम्प्रदाय प्रमुख थे। साधना के क्षेत्र में इन सभी सम्प्रदायों तथा मतों का अपना-अपना महत्व था, परन्तु उनके रूढ़ि-ग्रस्त हो जाने से उनका प्रवाह रुक-सा गया था और उनमें संकीर्णता आ गयी थी। इसलिए एक मत अथवा सम्प्रदाय के लोग दूसरे मतवालों को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

मानव-कल्याण के लिए यह स्थिति अत्यन्त भयावह थी। इसलिए अन्य समस्याओं की भाँति इन समस्या पर भी विचार करना परम आवश्यक था।

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर के समय की जिन आवश्यकताओं एवं समस्याओं की ओर संकेत किया गया है उन पर विचार और विचार के अनुसार सुधार करनेवालों के उस समय दो दल थे—एक दल तो था उन विचारकों का जो समस्त साधना-पद्धतियों की रूढ़ि-ग्रस्त परंपराओं को स्वीकार करते हुए युग के अनुकूल उनकी नवीन व्याख्या करना चाहते थे। वे प्राचीनता के पक्षपाती तो थे, पर नवीनता के विरोधी नहीं थे। दूसरे प्रकार के विचारक क्रान्तिकारी थे। वे समस्त रूढ़ियों को अस्वीकार करके भारतीय समाज को नये दृष्टि-कोण से व्यवस्था करना चाहते थे। यदि व्यास, शंकराचार्य, रामानुज, तुलसीदास प्रथम वर्ग के सुधारक थे तो बुद्ध, अश्व घोष, नागार्जुन, गोरख और कबीर द्वितीय वर्ग के। कबीर प्रचीनतावादी अथवा रूढ़िवादी नहीं थे। वह प्रगतिशील थे। वह समाज तथा धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर ही चोट करना चाहते थे। विजेता और विजित, हिन्दू और मुसलमान, शिया और सुन्नी, कट्टर एकश्वरवादी और सूफी मतवादी, योगी और भक्त, वैष्णव और शैव, बौद्ध और जैन, ऊँच और नीच, धनी और निर्धन, छूत और अछूत, ब्रह्म और ईश्वर—तात्पर्य यह कि इस प्रकार के जितने भी भेद-विभेद थे वह उन सबका अन्तकर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सब भाई-भाई की तरह रहें और धर्म के क्षेत्र में अपनी व्यक्तिगत साधना में विश्वास करें। कबीर का यही दृष्टि कोण उनके महत्व का सूचक है।

कबीर अपने समय की उपज थे। उन्होंने स्वयं अपना नेतृत्व और निर्माण किया था। वह द्रष्टा और युगप्रवर्तक थे। उन्होंने व्यक्ति की धार्मिक प्रवृत्तियों का अपनी दृष्टि से संस्कार किया और अपनी पाखडरहित वाणी से तत्कालीन जनता के जीवन को अनुप्राणित किया। उनके पहले कई धार्मिक नेता हो चुके थे, परन्तु उनमें अप्रिय सत्य कहने का साहस नहीं था। कबीर ने इस अभाव की पूर्ति की। भक्त-कवियों की विनयशीलता और आत्म-भर्त्सना के बीच उन्होंने स्पष्ट रूप से धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की पक्षपात रहित

आलोचना की। उन्होंने जहाँ परम्परागत हिन्दू-धर्म के कर्म-काण्ड से निर्भीक स्वर में लोहा लिया, वहाँ भारत में जड़ पकड़नेवाली इस्लाम की नवीन सांप्रदायिक भावना की भी कटु शब्दों में भर्त्सना की। इस प्रकार उन्होंने दोनों धर्मों की अधार्मिकता पर समान रूप से प्रहार किया। उपासना क्षेत्र में वह व्यक्तिगत साधना के पक्षपाती थे। वह चाहते थे साधक को स्वावलम्बी एवं आत्मविश्वासी बनाना। इसलिए समाज के संगठन में वह विशेष सफल नहीं हो सके। फिर भी उनके इस विचार ने शास्त्रीय जटिलताओं को सुलझा कर धर्म को इतना सरल और जीवन-परक बना दिया कि साधारण जनता भी उससे अन्तःप्रेरणाएँ लेने में सफल हो सकी। इतना ही नहीं, जो लोग धर्म का शास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण भौतिक ऐश्वर्य से आकर्षित होकर धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार हो जाते थे, उन्हें कबीर की पक्षपातरहित वाणी से अपने धर्म पर आरूढ़ रहने का बल मिला। इस प्रकार मुसलमानी कुल में मुसलमानी संस्कृति के बीच पोषित होकर भी उन्होंने ऐसे सार्वजनीन सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनसे हिन्दू-धर्म को भी अपने स्थान पर स्थिर रहने की क्षमता एवं दृढ़ता प्राप्त हुई। उन्होंने दोनों धर्मों के बीच समभाव की प्रतिष्ठा की। उनके विचार सब के लिए समान थे। उनके हृदय में हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए समान रूप से स्थान प्राप्त था। उनका धर्म मानव के लिए था, उस मानव के लिए जिसके हृदय में ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो, धर्म का पाखण्ड न हो। हिन्दू-धर्म के जाति-बंधन के वह कटु आलोचक थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र, धनवान और निर्धन—सब समान थे। अपनी इसी सम दृष्टि के कारण वह साधारण हिन्दू-जनता में रामानन्द की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए। उपासना के क्षेत्र में रामानन्द अधिक व्यावहारिक न थे, कबीर व्यावहारिक थे। इसलिए कबीर को रामानन्द की अपेक्षा अपने सिद्धान्तों के प्रचार में अधिक सफलता मिली।

तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र में कबीर का महत्त्व उनके सम-भाव के सिद्धान्त के कारण ही था। उनका यह समभाव उनके मनन और चिन्तन का परिणाम

था। वह स्वतंत्र प्रवृत्ति के साधक थे। वह अपनी आत्मा के सच्चे और निर्भीक अनुचर थे और उसी का चित्र अपनी वाणी-द्वारा उतारा करते थे। उन्हें किसी की चिन्ता नहीं थी। वह अपनी आत्मा की ध्वनि पर मनन करते थे और उसी का प्रचार करते थे। उन्होंने समाज की मनोवृत्तियों के अनुसार अपने धार्मिक सिद्धान्तों का निर्माण न करके अपने स्वनिर्मित-सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति का निर्माण किया। इसीलिए वह अपने समय के सभी सुधारकों, संतों और धर्म-प्रवर्तकों से पृथक थे। वह क्रान्तिकारी और युग-प्रवर्तक थे। उनके सिद्धान्त उनके अपने सिद्धान्त थे, उनकी विचार-धारा उनकी अपनी विचार-धारा थी। उन्होंने जो कुछ कहा, हृदय की प्रेरणा से ही कहा। इसलिए उनका सन्देश सत्पुरुष का सन्देश था। वह संत पहले और कवि बाद को थे। उनमें धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान था, काव्यगत दृष्टिकोण गौण। उन्होंने साहित्य के लिए गीत नहीं गाये, चित्रकारी के उद्देश्य से चित्र नहीं खींचे। उन्होंने जनता के हृदय को परिष्कृत करने, उसे धार्मिक भावना से अनुप्राणित करने और उसे सत्य की ज्योति से जगमगाने के लिए अपनी वाणी को मुखरित किया। वह भाषा के पारखी नहीं थे। छन्दों का उन्हें ज्ञान नहीं था। अलङ्कारों के वह पंडित नहीं थे। वह किसी शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उन्हें जैसी भाषा मिली, जो छन्द मिले उसी में उन्होंने अपने हृदय के सत्य को चित्रित किया। उनकी अनुभूति और ज्ञान का आधार था—जीवन की खुली पुस्तक। इसीलिए उनके तर्कों में उनका अपनापन था, आत्मविश्वास की अद्भुत आभा थी।

भाषा की दृष्टि से भी कबीर का महत्व कम नहीं है। अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता तक उन्हीं की भाषा में पहुँचाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उनके समय में भाषा बन रही थी। उसका रूप निखर रहा था। उसमें साहित्य नहीं के बराबर था। कबीर ने सबसे पहले उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। उन्होंने जीवन की जटिल समस्याओं को तत्कालीन जनता की भाषा में सुलझाकर अप्रत्यक्ष रूप से उसका महत्व बढ़ा दिया। फलतः भविष्य में वही भाषा परिष्कृत होकर साहित्य का माध्यम बन गई।

कबीर विचारक संत थे। 'मसि-कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं

हाथ' से यह भी ध्वनित होता है कि उन्होंने अपने विचारों को लिपि-बद्ध भी नहीं किया, केवल मौखिक रूप से ही लोगों को उपदेश देते रहे। पुस्तक-ज्ञान को भी उन्होंने अपने जीवन में महत्व नहीं दिया। 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई', में जो व्यंग है वह उन्हीं पंडितों के प्रति है जो केवल पुस्तक-ज्ञान के आधार पर अपने पांडित्य का प्रदर्शन करते थे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ग्रन्थ-रचना को भी महत्व नहीं दिया। ऐसा लगता है कि साधु-संतों के सत्संग के अवसरों पर आवश्यकतानुसार वह पद-रचना करते रहे होंगे और उसे उनके श्रद्धालु शिष्य लिपि-बद्ध कर लेते रहे होंगे। आज उनकी जो भी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं वे सब उनके शिष्यों-द्वारा ही लिखी गयी हैं। यही कारण है कि उनमें मनमाने परिवर्तन मिलते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों-द्वारा उनके लिपि-बद्ध होने के कारण उनमें भाषा और भाव की अनेक भूलें तो हैं ही, साथ ही उनमें ऐसे पद भी अधिक हैं जिन पर कबीर के व्यक्तित्व की छाप नहीं है। यही कारण है कि अबतक उनकी रचनाओं का शुद्ध पाठ हमारे सामने नहीं आ पाया है।

कबीर की रचनाएँ

कबीर ने अनेक पदों की रचना की है। कबीर-पंथियों का तो यहाँ तक विश्वास है कि 'सद्गुरु की वाणियों का कहीं अन्त नहीं है'। हम ऐसा नहीं समझते। हमारा विश्वास है कि कबीर की रचनाओं की एक सीमा है, उनकी एक वास्तविक संख्या है। इस समय तक उनके नाम से जो ग्रन्थ मिलते हैं और जिनमें उनकी रचनाएँ संगृहीत हैं उनमें 'बीजक', 'आदि ग्रन्थ' तथा 'कबीर ग्रन्थावली' का विशिष्ट स्थान है। 'कबीर-बीजक' कबीर-पंथ के अनुयायियों का धर्म-ग्रन्थ है। इसमें बहुत से ऐसे पद हैं जो न तो 'आदि-ग्रन्थ' में मिलते हैं और न 'कबीर-ग्रन्थावली, में। भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी यह उक्त दोनों ग्रन्थों से मेल नहीं खाता। इसमें तीन प्रकार के छन्दों की प्रधानता है (१) साखी, (२) सबद और (३) रमैनी। 'साखी' का अर्थ है—साक्ष्य, साक्षात्कार, ज्ञान, अनुभव, दोहों में सन्तों की अनुभव-वाणी। कबीर ने अपने दोहों साखियों—में साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया है, पाखण्डपूर्ण धार्मिक कृत्यों

पर तीव्र व्यंग किया है और अपने सिद्धान्तों की विवेचना की है। इस प्रकार उनके अधिकांश दोहे नीति और उपदेश से भरे हुए हैं। 'रमैनी' से तात्पर्य है कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा। कबीर की रमैनी में दोहे के पूर्व चौपाइयों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। कहीं-कहीं चौपाइयों के पश्चात दोहे भी नहीं हैं। 'सबद' में गेय पद हैं। इनमें कबीर की अनुभूतियों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण मिलता है। इन छन्दों के अतिरिक्त इसमें ककहरा, बसन्त, चाँचरी, बेली, बिरहूली, हिंडोला आदि छन्द भी मिलते हैं। 'आदि-ग्रन्थ' पंजाबी में हैं। इसमें 'सबदों' का महत्व है। साथ ही इसमें कबीर की कुछ ऐसी रचनाएँ भी संगृहीत हैं जो उनके व्यक्तिगत जीवन पर बहुत स्पष्ट प्रकाश डालती हैं। 'कबीर-ग्रन्थावली' का संपादन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया है। इसके प्रणयन में 'श्री कबीर जी की वाणी' तथा 'आदि-ग्रन्थ' से विशेष सहायता ली गयी है।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कबीर की रचनाओं के अन्य छोटे-छोटे संग्रह भी मिलते हैं। इन संग्रहों का प्रकाशन एक विशिष्ट दृष्टि कोण से ही किया गया है। कबीर की रचनाओं का जैसा प्रमाणिक संस्करण होना चाहिए, वैसा अभी नहीं हो पाया है। प्रसन्नता की बात है कि इस ओर हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान गया है और निकट भविष्य में हमारी यह कठिनाई हल होने की पूरी संभावना है।

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्त

कबीर को कहाँ से क्या मिला, कितना मिला और उसे उन्होंने किस प्रकार अपनी अनुभूति का विषय बनाकर किस उद्देश्य से और किस रूप में जनता के सामने पुस्तुत किया?—इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। हम केवल यह देखेंगे कि वह अपनी धर्म-साधना में सोलह आना भारतीय धर्म-साधना से प्रभावित थे अथवा नहीं? इस दृष्टि से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि उन्हें शरीर मुसलमान-दम्पतियों से प्राप्त हुआ था, तथापि उनका मन, उनका हृदय तथा उनका मस्तिष्क उन हिन्दू-मनीषियों, ऋषियों और चिन्तकों का था जो संसार के माया-मोह से विरक्त होकर अपनी व्यक्तिगत साधना में पारंगत थे। वह एकान्त साधक थे। उनके उपदेशों

को कौन ग्रहण करता है, कौन नहीं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वह बहुत ऊँचे उठे हुए साधक थे। वह न तो किसी के गुरु थे, न किसी के शिष्य। स्वामी रामानन्द के उपदेशों से उन्हें जो प्रेरणा मिली थी उसे भी उन्होंने तबतक स्वीकार नहीं किया जबतक उन्होंने उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर भलीभांति कस नहीं लिया। वह जागरूक और बुद्धिवादी थे। किसी भी मत में उनका विश्वास नहीं था। वेद, पुराण, शास्त्र, क़ुरान आदि धर्म-ग्रंथों और उनके प्रणेताओं के प्रति आदर की दृष्टि से देखते हुए भी उन्होंने उनके विचारों को स्वीकार नहीं किया। वह किसी भी धर्म को असत्य अथवा कपोल-कल्पित नहीं समझते थे। सब धर्म सत्य पर ही आधारित हैं—ऐसा वह मानते थे, पर उस सत्य को उन्होंने यों ही स्वीकार नहीं किया। अंध-विश्वास को वह अपनी साधना के लिए विघ्न समझते थे। उनकी दृष्टि में अज्ञानी और मूर्ख वह था जो बिना सोचे-समझे, बिना विचारे ही दूसरों की अनुभूतियों को सत्य मान लेता था। ऐसे ही व्यक्तियों की उन्होंने आलोचना की। उन्हें किसी से द्वेष नहीं था, पर जो लोग समाज और धर्म की पवित्रता को नष्ट करने में लगे हुए थे उन्हें फटकारने से भी वह नहीं चूके। उन्होंने उनके केवल पाखण्डपूर्ण कार्यों पर गहरी चोट की, उन सिद्धान्तों पर नहीं जिन पर उनका मत आश्रित था। वह अपने लिए जिस विचार स्वातंत्र्य को उपयुक्त और अपेक्षित समझते थे उसके लिए उन्होंने कभी किसी को दोषी नहीं ठहराया। उन्होंने सब को छूट दी, सब को सोचने-समझने का अवसर दिया। इसीलिए किसी मत विशेष का प्रवर्तन भी उन्होंने नहीं किया। उनके सिद्धान्तों को समझने में जो कठिनाई होती है, उसका यह एक प्रमुख कारण है। एक दूसरी कठिनाई भी है और यह कि वह दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं भी दार्शनिक होने का दावा नहीं किया। उनकी विचार-धारा सीधी-सादी थी। अपनी बुद्धिवादिता में वह तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्त्व देते थे। साधना के प्रश्न को तर्क-द्वारा हल करनेवालों को वह मोटी बुद्धिवाला कहते थे। 'कहत कबीर तरक जो साधै ताकी मति है मोटी'—कहकर उन्होंने तार्किकों का उपहास भी किया था। वह धर्म, राजनीति

और समाज के क्षेत्र में समरसता लाने के पक्षपाती थे। इसके लिए अनुभूति ही अपेक्षित है, तर्क नहीं। तर्क-द्वारा हम शीघ्र किसी निश्चय पर नहीं पहुँचते। शास्त्रीय तर्क के अभाव में इसीलिए कबीर को समझना कठिन हो जाता है।

कबीर के सिद्धान्तों को समझने में और भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। उनकी रचनाओं में हमें इतने विभिन्न मतों की चर्चा मिलती है और उनमें से कई की ओर वह इस प्रकार आकृष्ट जान पड़ते हैं कि उनके आधार पर हम उन्हें कभी वेदान्ती, कभी सूफी, कभी सगुणवादी, कभी निर्गुणवादी, कभी ज्ञानी, कभी भक्त और कभी योगी समझने लगते हैं। हमारी इस प्रकार की भ्रान्तपूर्ण धारणा का कारण यह है कि उनकी सिद्धान्त-सम्बन्धी समस्त बातें हमें विशेष स्थलों पर एकत्र नहीं मिलतीं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक पद ऐसे हैं जिनमें अनेक बातों का समावेश पाया जाता है। एक ही विचार-धारा को व्यक्त करनेवाले पदों में सामंजस्य का अभाव है। ऐसा लगता है कि जब जो बात उनकी अनुभूति में आई तब उन्होंने उसे पद्यबद्ध कर दिया। उनकी रचनाओं में काल-क्रम का अभाव भी एक ऐसी बाधा है जिसके कारण उनके आध्यात्मिक विकास की स्पष्ट रेखाएँ सामने नहीं आतीं और हम इधर-उधर टटोलते ही रह जाते हैं। उनकी रचनाओं का कोई प्रमाणित संस्करण भी उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी जो आलोचक उनकी रचनाओं के विचार-सागर में गहराई तक उतरे हैं उन्होंने उनके सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त किया है। सुविधा की दृष्टि से हम उनके सिद्धान्तों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) दार्शनिक सिद्धान्त और (२) सामाजिक सिद्धान्त। निम्न पंक्तियों में हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

(१) दार्शनिक सिद्धान्त—कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत तीन तत्वों की प्रधानता मिलती है—(१) परमतत्व, (२) जीवतत्व और (३) माया-तत्व। उनके **परमतत्व** पर औपनिषदीय ब्रह्मवाद का प्रभाव अवश्य है, पर उसकी व्याख्या उन्होंने अपनी अनुभूति के आधार पर की है। 'करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया' तथा 'चेतत चेतत निकसिओ नीरु।

सो जलु निरमल कथत कबीरु' ||—में उन्होंने अपनी अनुभूति-द्वारा ही उस परमतत्व को प्राप्त करने की ओर संकेत किया है। दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने अपने परमतत्व को 'अगम', 'अगोचर', 'अलख', 'निरंजन', 'निराकार', 'निर्गुण' ही माना है। वह कहते हैं :—

बिन मुख खाइ, चरन बिन चालै,
बिन जिह्वा गुण गावै।

× × ×

जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ।

× × ×

अलख निरंजन लखै न कोई।
निरभै निराकार है सोई॥

× × ×

सुनि, असथूल, रूप नहिं रेखा।
द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहिं पेखा॥

× × ×

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा वैसा रहे, कहे कबीर विचारि॥

× × ×

पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ।
एक निराकार हृदय नमस्कारूँ॥

× × ×

वो है जैसा वो ही जानै।
ओ ही आहि, आहि नहिं आनै॥

× × ×

अविगत, अकल अनूप देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई॥

× × ×

अवगति की गति क्या कहूँ, जाकर गाँव न नांव ।
गुन बिहून का पेखिये काकर धरिए नांव ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ने अपने परमतत्व के निगुण रूप को ही अपना उपास्य माना है। हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, वेदांती और नाथपंथी मतों के अनुरूप हरि, गोविन्द, केशव, माधव, रहीम, करीम, गोरख आदि उसके अनेक नाम भी उन्होंने गिनाए हैं, पर उनमें से उन्हें उसके किसी नाम से संतोष नहीं होता। ऐसी दशा में अपने सन्तोष के लिए उन्होंने उसके साकार एवं सगुण रूप की भी कल्पना की है और फिर उसे सृष्टिकर्ता के रूप में चित्रित किया है। वह कहते हैं :—

आपन करता भये कुलाला। बहुविधि सृष्टि रची दर हाला।
विधना कुंभ किये द्वै थाना। प्रतिबिंब तामाहिं समाना ॥

× × ×

जिनि यह चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहे कबीर ते जन भले जो चित्रवत लेहि विचार।

और इसके साथ ही 'भांनड़, घडण संवारण सोई' कहकर उसे नष्ट करने वाला, बनानेवाला और सुधारनेवाला भी बताते हैं। इस सगुण रूप के साथ ही उन्होंने उसके विराट रूप की भी कल्पना की है। इतना ही नहीं, उन्होंने उसे कहीं माता, कहीं पिता, कहीं पति और कहीं स्वामी के रूप में भी स्मरण किया है ;—

कोटि सूर जाके परगास, कोटि महादेव अरु कविलास ।
दुर्गा कोटि जाके मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै ॥

आदि कह कर उसके व्यापक रूप में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, इन्द्र, दुर्गा, धर्मराज, नदी, पर्वत, कला, विद्या—सब को एक साथ तिरोहित कर दिया है। विष्णु के पौराणिक रुपों की भी उन्होंने कल्पना की है और नरसिंह तथा कृष्णावतार का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने परमतत्व का निरूपण विभिन्न ढंगों से किया है। इनसे हमें उनके सत्य-निरूपण-संबधी प्रारंभिक प्रयोगों का ही आभास मिलता है। ऐसा

लगता है कि आरंभ में परमतत्व संबंधी जो बिचार उनकी अनुभूति में आये होगें उनको उन्होंने अपने पदों में निःसंकोच व्यक्त कर दिया होगा, परन्तु कालांतर में जब उन्हें उसका रहस्य खुला होगा तब उन्होंने अपने पूर्व विचारों को 'धोखा' कह कर निम्न पदों की रचना की होगी :—

संतौ, धोखा कासूं कहिए ।
गुण में निरगुण, निरगुण में गुण है, बाट छाड़ि क्यों बहिये ।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई ।
नाति स्वरूप, वरण नहिं जाके, घटि-घटि रह्य समाई ।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई ।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई ।

× × ×

लोगा भरमिन भूलहू भोई ।
खालिकु खलक खलक महिं खालिकु पूरि रह्यो सब ठाईं ॥
माटी एक अनेक भांति कर साजी साजन हारे ।
न कछु पोच माटी के भाण्डे, न कछु पोच कुँभारे ॥
सब महिं सच्चा एको सोईं, तिसका किया सब कुछ होईं ।

इन पदों से स्पष्ट है कि कबीर उस परमतत्व का अस्तित्व मात्र स्वीकार करते हैं, उसे किसी नाम से अभिहित करना नहीं चाहते। यही है उनके परमतत्व की व्याख्या जिसके अनुसार वह निर्गुण और सगुण—दोनों से परे है। वह न अजर-अमर है, न अलख-निरंजन है, न ब्रह्मांड और पिंड में है। वह है और घट-घट व्यापी होते हुए भी आदि-अन्त हीन है। वह कर्ता भी है, कृति भी। अपने कृति में वह स्वयं ओतप्रोत है। कबीर कहते हैं :—

बाजीगर डंक इजाई । सब खलक तमासे आई ॥
बाजीगर स्वांगु सकेला । अपने रंग रवै अकेला ॥

× × ×

जिनि नटवर नटसारी साजी । जो खेलै सो दीसे बाजी ॥

ऐसा है कबीर का परमतत्व जो अनिर्वचनीय है। शब्दों द्वारा उसका

वर्णन नहीं हो सकता। वह अगम और अज्ञेय है। अपने को वह स्वयं आप ही जानता है और दूसरा उसे केवल 'है' ही कह सकता है। अपनी-अपनी पहुँच और अनुभूति के अनुसार ही साधक को उसका किंचित परिचय प्राप्त होता है। वह परम सत्य है और उसी का प्रसार सारे विश्व में है।

कबीर के दार्शनिक सिद्धातों में दूसरा प्रमुख तत्व है जीव-तत्व। उन्होंने परमात्मा और जीवात्मा में कोई भेद नहीं माना है। 'खालिकु खलक खलक महिं खालिकु परि रह्यो सब ठाई'—कहकर वह हरि में पिंड और पिंड में ही हरि के अस्तित्व का समर्थन करते हैं। वह यह भी कहते हैं कि इस शरीर के भीतर समझी जानेवाली आत्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, न तपस्वी है, और न शेख ही है। 'कहै कबीर इहि राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु'—से यह स्पष्ट है कि उन्होंने उसे राम का, उस परमतत्व का अंश मात्र माना है जिस का नाश उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कागज के ऊपर से स्याही का चिह्न नहीं मिटता। उनका यह अंशाशि-भाव उनकी उन उक्तियों से भी स्पष्ट होता है जिनमें उन्होंने दोनों के संबंध को विन्दु और समुद्र के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में जीव-तत्व मूलतः और तत्वतः वही है जो परम तत्व है। जीव-तत्व और परम-तत्व में विभिन्नता का अनुभव करनेवालों को उन्होंने फटकारा है और कहा है :—

दोइ कहै तिनही को दोजख, जिन नहिन पहिचाना।

× × ×

कहै कबीर तुरक दुई साधै; तिनकी मति है मोटी।

कबीर ने शरीरस्थ आत्मा के दो रूप माने हैं जिन्हें हम ज्ञाता या ज्ञेय अथवा द्रष्टा या दृश्य के नाम से अभिहित कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा प्राप्ता भी है और प्राप्तव्य भी। 'आप छिपाने आपै आप'—से उनका यही तात्पर्य है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने अपनी रचना 'कबीर की विचार-धारा' में कबीर की 'सुरति' को प्राप्ता आत्मा और निरतिको प्राप्तव्य आत्मा का शुद्ध मुक्त-स्वरूप माना है। जब सुरति अर्थात् प्राप्ता आत्मा का निरति अर्थात् प्राप्तव्य आत्मा

से तादात्म्यत् हो जाता है तब कल्याण और आनन्द की प्राप्ति होती है। कबीर ने कहा भी है :—

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भू दुवार।

यहाँ वह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक अद्वैत तत्व भिन्न रूपों में कैसे और क्यों दिखाई पड़ता है ? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए उन्होंने प्रतिविम्ब-वाद की शरण ली है। 'ज्यों जल में प्रतिबिंब त्यों सकल रामहिं जानी जी,' में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार जल में बिम्ब के विवध प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार इस संसार में जीवात्मा के विविध रूप मिलते हैं। संक्षेप में यही हैं कबीर के जीवात्मा-संबंधी विचार जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह अद्वैतवादी थे।

अब कबीर के माया-तत्व को परखिए। हम अभी बता चुके हैं कि कबीर की दृष्टि में जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु साधारण लोगों की दृष्टि में ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसका मूल कारण है माया। संसार में जन्म लेना माया में फँसना है और माया ही उस परमतत्व से विलगाव का कारण है। वह कहते हैं:—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तथ्य कथ्यो ग्यानी॥

इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर डालनेवाली है केवल माया। इस माया को कबीर ने 'एक परम सुन्दरी' तथा 'विश्व मोहिनी' के रूप में चित्रित किया है।' इसका स्वभाव है ठगना और फँसाना। 'माया महा ठगिन हम जानी' साथ ही 'कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खाँड़' आदि से उनकी इसी भावना का आभास मिलता है। माया को उन्होंने नारी के रूप में ही नहीं; वेलि के रूप में भी चित्रित किया है और उसे अनिर्वचनीय माना है। वह कहते हैं :—

जो काँटों तो डह डही, सींची तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय॥

ऐसी माया को कबीर ने त्रिगुणात्मक माना है और कहा है कि उस परमतत्व ने उसे उत्पन्न करके उसमें अपने आप को छिपा लिया है। निम्न पदों से हमें उनकी इसी प्रकार की विचार-धारा का आभास मिलता है :—

रजगुण, तमगुण, सतगुण कहिये यह सब तेरी माया ॥

× × ×

सत, रज, तम, थैं कीन्हीं माया ।
आपन माँझ आप छिपाया ॥

कबीर का यह भी विश्वास है कि माया अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण परिवर्तनशील है। इसलिए संसार की सभी वस्तुएँ माया-रूपिणी एवं परिवर्तनशीला हैं। 'कबीर माया डोलनी, पवन बहै हिवधार' में कबीर ने माया की गतिशीलता की पवन के प्रवाह से उपमा दी है। 'उपजै विनसै जेती सर्व माया'—से भी उसकी परिवर्तनशीलता का ही आभास मिलता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका जन्म और नाश दोनों होता है। उसी के कारण जीव आवागमन के इन्द्रजाल में फँसता है और यही दुःख का कारण है। अतः माया स्वभावतः दुःख-रूपिणी है। वह व्यभिचारिणी और बन्धन-रूपा भी है। 'मोर-तोर' की वही जननी है। काम, क्रोध, मोह, मद एवं मत्सर उसके पुत्र हैं जो लोगों को सदा विविध प्रकार का नाच नचाया करते हैं। वह इतनी आकर्षणमयी है कि उसे छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं छूटती। संसार में आदर, मान, जप-तप, व्रत, उपवास, तीर्थ-यात्रा, रोज़ा, नमाज़ जो कुछ है वह सब माया-प्रसूत ही है। वह जल, थल और आकाश सर्वत्र परिव्याप्त है। संसार का कोना-कोना उससे अभिभूत है। उसका निवास-स्थान है मन। 'इक डायन मेरे मन बसै, नित उठ मेरे जिय को डसै' कहकर कबीर ने माया के प्रभाव को स्पष्ट कर दिया है। 'माया मुई, न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर' द्वारा उन्होंने यह भी कह दिया है कि मन की भाँति ही माया भी अविनश्वर है और मन के सारे विकार उसी के संगी-साथी हैं। ऐसी है वह माया और ऐसा है उसका आकर्षक रूप। उसका आकर्षक रूप ही भगवान की भक्ति में बाधक है। वह भक्ति नहीं करने देती। कबीर कहते हैं :—

MUTHIGANJ ALLAHABAD

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण में उनका अपना ही हाथ था। वह कभी झिझके नहीं, कभी झुके नहीं, कभी अटके नहीं, कभी भटके नहीं। वह अपनी साधना, अपने विश्वासों और अपनी अनुभूतियों में बराबर आगे बढ़ते रहे और एक दिन वह आया जब वह अपने मार्ग की अनेक कठिनाइयों को दूर कर बंधन-मुक्त हो गये। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है कि 'हज़ार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नहीं उत्पन्न हुआ।'

कबीर का महत्त्व

कबीर संधि-काल के विचारक और समीक्षक थे। उनका समय दो परस्पर विरोधी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के संघर्ष का युग था। विजेता के रूप में आए हुए मुसलमान विजित हिन्दुओं के साथ जीवन के किसी भी क्षेत्र में समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। हिन्दू अपना सब कुछ देकर भी अपनी सभ्यता और संस्कृत की रक्षा करने पर डटे हुए थे। ऐसी दशा में संघर्ष होना स्वभाविक ही था। इस संघर्ष का प्रभाव तत्कालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक तथा धार्मिक—पर पड़ रहा था और उनके दुखद परिणाम स्पष्ट होते जा रहे थे। साथ ही यह भी स्पष्ट होता जारहा था कि यदि विजेताओं को विजितों के साथ इसी देश में जमकर रहना है तो उन्हें यहाँ के जीवन-सिद्धान्तों के साथ किसी-न-किसी रूप में समझौता करना ही होगा। समझौते की यह भावना उच्च स्तर के लोगों की अपेक्षा निम्न अथवा अशिक्षित स्तर के लोगों में विशेष रूप से पनप रही थी। वे शान्तिपूर्वक रहकर अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहते थे। यह थी उस समय की प्रथम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या !

उपर्युक्त समस्या से ही संबंधित तत्कालीन भारतीय समाज की एक दूसरी समस्या भी थी। इस समस्या का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था से और गौणतः विदेशी जातियों से था। हिन्दू-सामाजिक व्यवस्था के जो दो स्तंभ—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्म—माने जाते हैं उनका आदि रूप निस्सन्देह आकर्षक, गतिशील और कल्याणकारी था, परन्तु समय के प्रभाव से

उनमें भी ऐसे दोष आ गए थे जिनके कारण हिन्दू समाज की एकता ही खतरे में पड़ गयी थी। वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच, छूत-अछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण की अकल्याणकारी भावनाओं से पूरित थी। इसी प्रकार आश्रम-धर्म भी निर्जीव हो रहा था। महात्मा गौतम बुद्ध ने इन दोनों स्तंभों के रूढ़ि-ग्रस्त रूपों को गति देने की चेष्टा की थी, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। क्यों? इसलिए कि वर्ण-व्यवस्था और आश्रम धर्म की जड़ें इतनी दृढ़ और समाज की मानसिक भाव-भूमि में इतनी गहरी धंसी हुई हैं कि उनका उन्मूलन किसी एक के बल-बूते का काम नहीं है। गौतम बुद्ध चले थे वर्ण-व्यवस्था का अन्त करने, परन्तु वह उसका अन्त करने के स्थान पर एक नई जाति को ही जन्म दे गये। यह उनके धर्म के स्वरूप का ही दोष था। बुद्ध धर्म एक प्रकार से भिक्षुओं का धर्म था। भिक्षुओं ने लोक-जीवन में रहकर जाति-भेद की व्यर्थता का लौकिक उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया। बौद्ध-श्रमण भी जाति-बन्धन से मुक्त होकर उसकी व्यर्थता पर आघात न कर सके। इस प्रकार के जाति-बन्धन-विरोधी आन्दोलन आगे भी हुए, परन्तु उनके सबके साथ भी यही विडम्बना थी। ऐसी विडम्बना के फलस्वरूप जाति-बन्धन शिथिल होने के स्थान पर और भी रूढ़ि-ग्रस्त होते जा रहे थे। कबीर के समय में तो उनके रूढ़ि-ग्रस्त होने के और भी कारण प्रस्तुत हो गए थे। शक, हूण, ग्रीक, कुशन, सिथियन आदि जो भी विदेशी बर्बर जातियाँ भारत में आयी थीं, उनकी सांस्कृतिक स्थिति नगण्य थी। इसलिए कालान्तर में वे भारतीय जन-समूह का अंग बन गयीं। इस्लामी सभ्यता उच्च कोटि की सभ्यता थी। आर्य-संस्कृति के लिए उसको पचाना सरल काम नहीं था। उसमें दो विशेषताएँ थीं—एक तो जातीय भ्रातृ-भाव और दूसरी सामूहिक साधना। उसकी इन्हीं दोनों विशेषताओं की ओर वर्ण-व्यवस्था से पीड़ित और आश्रम-धर्म से ऊबे हुए लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसी दशा में वर्णाश्रम-धर्म के बंधन शिथिल न होकर और भी जकड़ गए। इस्लाम की भी कुछ ऐसी ही दशा हुई। उसने जिस बर्बरता से संसार के अन्य देशों में सफलता प्राप्त की थी वह भारतीय अहिंसात्मक प्रवृत्ति के सामने कुंठित हो गयी। अपने धार्मिक सिद्धान्तों के

प्रचार में उसे अपनी बर्बरता पर ही विश्वास था। भारतीय वातावरण में उसका वह विश्वास जाता रहा और वह भी धीरे-धीरे रूढ़ि-ग्रस्त हो गया—इतना रूढ़िग्रस्त हो गया कि उसमें भी दो दल हो गए। इनमें से एक दल था उन मुसलमानों का जिनमें विशुद्ध तुर्की अथवा अरबी रक्त था और दूसरा दल था उन नए मुसलमानों का जिन्होंने वर्णाश्रम-धर्म की जटिलता से ऊबकर इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। भारत की तत्कालीन इस्लामी राजनीति में इन दोनों दलों ने पूरा भाग लिया था और सच पूछिए तो यही भारत की इस्लामी सल्तनतों के विनाश का कारण हुआ। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं से त्रस्त एवं पीड़ित थे। अतएव आवश्यकता थी ऐसी सामाजिक व्यवस्था की जो एक ओर तो दोनों को रूढ़ियों से मुक्त कर दे और दूसरी ओर उनमें भ्रातृ-भाव का संचार करे।

एक तीसरी समस्या भी थी और वह थी तत्कालीन भारतीय साधना-पद्धतियों को रूढ़ि-मुक्त करना। हम बता चुके हैं कि कबीर के समय में (१) सगुण भक्ति के अन्तर्गत वैष्णव, शैव तथा शाक्त सम्प्रदाय, (२) निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत हिन्दू-संत, एकेश्वरवादी मुसलमान तथा प्रेम-मार्गी सूफी (३) बौद्धों का सहजयानी सम्प्रदाय तथा (४) नाथ-पंथी सम्प्रदाय की धूम थी। इस्लाम-धर्म में दो दल थे—एक तो था कट्टर एकेश्वरवादी मुसलमानों का दूसरा था सूफी-मतवालों का। कट्टर एकेश्वरवादी शिया और सुन्नी में विभाजित थे। सूफी-सम्प्रदाय के लोग कट्टर एकेश्वरवादी मुल्लाओं के साथ नहीं थे। उन्हें बल था सात्विक वृत्ति के मुसलमानों का, परन्तु यह लोग भी कई सम्प्रदायों में विभक्त थे। कबीर के समय में इन सम्प्रदायों की संख्या लगभग १४ तक पहुँच चुकी थी जिनमें चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, क़ादरी सम्प्रदाय और नक्शबन्दी सम्प्रदाय प्रमुख थे। साधना के क्षेत्र में इन सभी सम्प्रदायों तथा मतों का अपना-अपना महत्व था, परन्तु उनके रूढ़ि-ग्रस्त हो जाने से उनका प्रवाह रुक-सा गया था और उनमें संकीर्णता आ गयी थी। इसलिए एक मत अथवा सम्प्रदाय के लोग दूसरे मतवालों को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

मानव-कल्याण के लिए यह स्थिति अत्यन्त भयावह थी। इसलिए अन्य समस्याओं की भाँति इन समस्या पर भी विचार करना परम आवश्यक था।

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर के समय की जिन आवश्यकताओं एवं समस्याओं की ओर संकेत किया गया है उन पर विचार और विचार के अनुसार सुधार करनेवालों के उस समय दो दल थे—एक दल तो था उन विचारकों का जो समस्त साधना-पद्धतियों की रूढ़ि-ग्रस्त परंपराओं को स्वीकार करते हुए युग के अनुकूल उनकी नवीन व्याख्या करना चाहते थे। वे प्राचीनता के पक्षपाती तो थे, पर नवीनता के विरोधी नहीं थे। दूसरे प्रकार के विचारक क्रान्तिकारी थे। वे समस्त रूढ़ियों को अस्वीकार करके भारतीय समाज की नये दृष्टि-कोण से व्यवस्था करना चाहते थे। यदि व्यास, शंकराचार्य, रामानुज, तुलसीदास प्रथम वर्ग के सुधारक थे तो बुद्ध, अश्व घोष, नागार्जुन, गोरख और कबीर द्वतीय वर्ग के। कबीर प्रचीनतावादी अथवा रूढ़िवादी नहीं थे। वह प्रगतिशील थे। वह समाज तथा धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर ही चोट करना चाहते थे। विजेता और विजित, हिन्दू और मुसलमान, शिया और सुन्नी, कट्टर एकश्वरवादी और सूफी मतवादी, योगी और भक्त, वैष्णव और शैव, बौद्ध और जैन, ऊँच और नीच, धनी और निर्धन, छूत और अछूत, ब्रह्म और ईश्वर—तात्पर्य यह कि इस प्रकार के जितने भी भेद-विभेद थे वह उन सबका अन्तकर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सब भाई-भाई की तरह रहें और धर्म के क्षेत्र में अपनी व्यक्तिगत साधना में विश्वास करें। कबीर का यही दृष्टिकोण उनके महत्व का सूचक है।

कबीर अपने समय की उपज थे। उन्होंने स्वयं अपना नेतृत्व और निर्माण किया था। वह द्रष्टा और युगप्रवर्तक थे। उन्होंने व्यक्ति की धार्मिक प्रवृत्तियों का अपनी दृष्टि से संस्कार किया और अपनी पाखडरहित वाणी से तत्कालीन जनता के जीवन को अनुप्राणित किया। उनके पहले कई धार्मिक नेता हो चुके थे, परन्तु उनमें अप्रिय सत्य कहने का साहस नहीं था। कबीर ने इस अभाव की पूर्ति की। भक्त-कवियों की विनयशीलता और आत्म-भर्त्सना के बीच उन्होंने स्पष्ट रूप से धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की पक्षपात रहित

आलोचना की। उन्होंने जहाँ परम्परागत हिन्दू-धर्म के कर्म-काण्ड से निर्भीक स्वर में लोहा लिया, वहाँ भारत में जड़ पकड़नेवाली इस्लाम की नवीन सांप्रदायिक भावना की भी कटु शब्दों में भर्त्सना की। इस प्रकार उन्होंने दोनों धर्मों की अधार्मिकता पर समान रूप से प्रहार किया। उपासना क्षेत्र में वह व्यक्तिगत साधना के पक्षपाती थे। वह चाहते थे साधक को स्वावलम्बी एवं आत्मविश्वासी बनाना। इसलिए समाज के संगठन में वह विशेष सफल नहीं हो सके। फिर भी उनके इस विचार ने शास्त्रीय जटिलताओं को सुलझा कर धर्म को इतना सरल और जीवन-परक बना दिया कि साधारण जनता भी उससे अन्तःप्रेरणाएँ लेने में सफल हो सकी। इतना ही नहीं, जो लोग धर्म का शास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण भौतिक ऐश्वर्य से आकर्षित होकर धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार हो जाते थे, उन्हें कबीर की पक्षपातरहित वाणी से अपने धर्म पर आरूढ़ रहने का बल मिला। इस प्रकार मुसलमानी कुल में मुसलमानी संस्कृति के बीच पोषित होकर भी उन्होंने ऐसे सार्वजनीन सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनसे हिन्दू-धर्म को भी अपने स्थान पर स्थिर रहने की क्षमता एवं दृढ़ता प्राप्त हुई। उन्होंने दोनों धर्मों के बीच समभाव की प्रतिष्ठा की। उनके विचार सब के लिए समान थे। उनके हृदय में हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए समान रूप से स्थान प्राप्त था। उनका धर्म मानव के लिए था, उस मानव के लिए जिसके हृदय में ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो, धर्म का पाखण्ड न हो। हिन्दू-धर्म के जाति-बंधन के वह कटु आलोचक थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र धनवान और निर्धन—सब समान थे। अपनी इसी सम दृष्टि के कारण वह साधारण हिन्दू-जनता में रामानन्द की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए। उपासना के क्षेत्र में रामानन्द अधिक व्यावहारिक न थे, कबीर व्यावहारिक थे। इसलिए कबीर को रामानन्द की अपेक्षा अपने सिद्धान्तों के प्रचार में अधिक सफलता मिली।

तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र में कबीर का महत्त्व उनके सम-भाव के सिद्धान्त के कारण ही था। उनका यह समभाव उनके मनन और चिन्तन का परिणाम

था। वह स्वतंत्र प्रवृत्ति के साधक थे। वह अपनी आत्मा के सच्चे और निर्भीक अनुचर थे और उसी का चित्र अपनी वाणी-द्वारा उतारा करते थे। उन्हें किसी की चिन्ता नहीं थी। वह अपनी आत्मा की ध्वनि पर मनन करते थे और उसी का प्रचार करते थे। उन्होंने समाज की मनोवृत्तियों के अनुसार अपने धार्मिक सिद्धान्तों का निर्माण न करके अपने स्वनिर्मित-सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति का निर्माण किया। इसीलिए वह अपने समय के सभी सुधारकों, संतों और धर्म-प्रवर्तकों से पृथक थे। वह क्रान्तिकारी और युग-प्रवर्तक थे। उनके सिद्धान्त उनके अपने सिद्धान्त थे, उनकी विचार-धारा उनकी अपनी विचार-धारा थी। उन्होंने जो कुछ कहा, हृदय की प्रेरणा से ही कहा। इसलिए उनका सन्देश सत्पुरुष का सन्देश था। वह संत पहले और कवि बाद को थे। उनमें धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान था, काव्यगत दृष्टिकोण गौण। उन्होंने साहित्य के लिए गीत नहीं गाये, चित्रकारी के उद्देश्य से चित्र नहीं खींचे। उन्होंने जनता के हृदय को परिष्कृत करने, उसे धार्मिक भावना से अनुप्राणित करने और उसे सत्य की ज्योति से जगमगाने के लिए अपनी वाणी को मुखरित किया। वह भाषा के पारखी नहीं थे। छन्दों का उन्हें ज्ञान नहीं था। अलङ्कारों के वह पंडित नहीं थे। वह किसी शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उन्हें जैसी भाषा मिली, जो छन्द मिले उसी में उन्होंने अपने हृदय के सत्य को चित्रित किया। उनकी अनुभूति और ज्ञान का आधार था—जीवन की खुली पुस्तक। इसीलिए उनके तर्कों में उनका अपनापन था, आत्मविश्वास की अद्भुत आभा थी।

भाषा की दृष्टि से भी कबीर का महत्व कम नहीं है। अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता तक उन्हीं की भाषा में पहुँचाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उनके समय में भाषा बन रही थी। उसका रूप निखर रहा था। उसमें साहित्य नहीं के बराबर था। कबीर ने सबसे पहले उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। उन्होंने जीवन की जटिल समस्याओं को तत्कालीन जनता की भाषा में सुलझाकर अप्रत्यक्ष रूप से उसका महत्व बढ़ा दिया। फलतः भविष्य में वही भाषा परिष्कृत होकर साहित्य का माध्यम बन गई।

कबीर विचारक संत थे। 'मसि-कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं

हाथ' से यह भी ध्वनित होता है कि उन्होंने अपने विचारों को लिपि-बद्ध भी नहीं किया, केवल मौखिक रूप से ही लोगों को उपदेश देते रहे। पुस्तक-ज्ञान को भी उन्होंने अपने जीवन में महत्व नहीं दिया। 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई', में जो व्यंग है वह उन्हीं पंडितों के प्रति है जो केवल पुस्तक-ज्ञान के आधार पर अपने पांडित्य का प्रदर्शन करते थे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ग्रन्थ-रचना को भी महत्व नहीं दिया। ऐसा लगता है कि साधु-संतों के सत्संग के अवसरों पर आवश्यकतानुसार वह पद-रचना करते रहे होंगे और उसे उनके श्रद्धालु शिष्य लिपि-बद्ध कर लेते रहे होंगे। आज उनकी जो भी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं वे सब उनके शिष्यों-द्वारा ही लिखी गयी हैं। यही कारण है कि उनमें मनमाने परिवर्तन मिलते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों-द्वारा उनके लिपि-बद्ध होने के कारण उनमें भाषा और भाव की अनेक भूलें तो हैं ही, साथ ही उनमें ऐसे पद भी अधिक हैं जिन पर कबीर के व्यक्तित्व की छाप नहीं है। यही कारण है कि अबतक उनकी रचनाओं का शुद्ध पाठ हमारे सामने नहीं आ पाया है।

कबीर की रचनाएँ

कबीर ने अनेक पदों की रचना की है। कबीर-पंथियों का तो यहाँ तक विश्वास है कि 'सद्‌गुरु की वाणियों का कहीं अन्त नहीं है'। हम ऐसा नहीं समझते। हमारा विश्वास है कि कबीर की रचनाओं की एक सीमा है, उनकी एक वास्तविक संख्या है। इस समय तक उनके नाम से जो ग्रन्थ मिलते हैं और जिनमें उनकी रचनाएँ संगृहीत हैं उनमें 'बीजक', 'आदि ग्रन्थ' तथा 'कबीर ग्रन्थावली' का विशिष्ट स्थान है। 'कबीर-बीजक' कबीर-पंथ के अनुयायियों का धर्म-ग्रन्थ है। इसमें बहुत से ऐसे पद हैं जो न तो 'आदि-ग्रन्थ' में मिलते हैं और न 'कबीर-ग्रन्थावली, में। भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी यह उक्त दोनों ग्रन्थों से मेल नहीं खाता। इसमें तीन प्रकार के छन्दों की प्रधानता है (१) साखी, (२) सबद और (३) रमैनी। 'साखी' का अर्थ है—साक्ष्य, साक्षात्कार, ज्ञान, अनुभव, दोहों में सन्तों की अनुभव-वाणी। कबीर ने अपने दोहों साखियों—में साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया है, पाखण्डपूर्ण धार्मिक कृत्यों

पर तीव्र व्यंग किया है और अपने सिद्धान्तों की विवेचना की है। इस प्रकार उनके अधिकांश दोहे नीति और उपदेश से भरे हुए हैं। 'रमैनी' से तात्पर्य है कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा। कबीर की रमैनी में दोहे के पूर्व चौपाइयों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। कहीं-कहीं चौपाइयों के पश्चात दोहे भी नहीं हैं। 'सबद' में गेय पद हैं। इनमें कबीर की अनुभूतियों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण मिलता है। इन छन्दों के अतिरिक्त इसमें ककहरा, वसन्त, चाँचरी, बेली, बिरहूली, हिंडोला आदि छन्द भी मिलते हैं। 'आदि-ग्रन्थ' पंजाबी में हैं। इसमें 'सबदों' का महत्व है। साथ ही इसमें कबीर की कुछ ऐसी रचनाएँ भी संगृहीत हैं जो उनके व्यक्तिगत जीवन पर बहुत स्पष्ट प्रकाश डालती हैं। 'कबीर-ग्रन्थावली' का संपादन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया है। इसके प्रणयन में 'श्री कबीर जी की वाणी' तथा 'आदि-ग्रन्थ' से विशेष सहायता ली गयी है।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कबीर की रचनाओं के अन्य छोटे-छोटे संग्रह भी मिलते हैं। इन संग्रहों का प्रकाशन एक विशिष्ट दृष्टि कोण से ही किया गया है। कबीर की रचनाओं का जैसा प्रमाणिक संस्करण होना चाहिए, वैसा अभी नहीं हो पाया है। प्रसन्नता की बात है कि इस ओर हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान गया है और निकट भविष्य में हमारी यह कठिनाई हल होने की पूरी संभावना है।

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्त

कबीर को कहाँ से क्या मिला, कितना मिला और उसे उन्होंने किस प्रकार अपनी अनुभूति का विषय बनाकर किस उद्देश्य से और किस रूप में जनता के सामने पुस्तुत किया?—इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। हम केवल यह देखेंगे कि वह अपनी धर्म-साधना में सोलह आना भारतीय धर्म-साधना से प्रभावित थे अथवा नहीं? इस दृष्टि से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि उन्हें शरीर मुसलमान-दम्पतियों से प्राप्त हुआ था, तथापि उनका मन, उनका हृदय तथा उनका मस्तिष्क उन हिन्दू-मनीषियों, ऋषियों और चिन्तकों का था जो संसार के माया-मोह से विरक्त होकर अपनी व्यक्तिगत साधना में पारंगत थे। वह एकान्त साधक थे। उनके उपदेशों

को कौन ग्रहण करता है, कौन नहीं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वह बहुत ऊँचे उठे हुए साधक थे। वह न तो किसी के गुरु थे, न किसी के शिष्य। स्वामी रामानन्द के उपदेशों से उन्हें जो प्रेरणा मिली थी उसे भी उन्होंने तबतक स्वीकार नहीं किया जबतक उन्होंने उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर भलीभांति कस नहीं लिया। वह जागरूक और बुद्धिवादी थे। किसी भी मत में उनका विश्वास नहीं था। वेद, पुराण, शास्त्र, क़ुरान आदि धर्म-ग्रंथों और उनके प्रणेताओं के प्रति आदर की दृष्टि से देखते हुए भी उन्होंने उनके विचारों को स्वीकार नहीं किया। वह किसी भी धर्म को असत्य अथवा कपोल-कल्पित नहीं समझते थे। सब धर्म सत्य पर ही आधारित हैं—ऐसा वह मानते थे, पर उस सत्य को उन्होंने यों ही स्वीकार नहीं किया। अंध-विश्वास को वह अपनी साधना के लिए विष समझते थे। उनकी दृष्टि में अज्ञानी और मूर्ख वह था जो बिना सोचे-समझे, बिना विचारे ही दूसरों की अनुभूतियों को सत्य मान लेता था। ऐसे ही व्यक्तियों की उन्होंने आलोचना की। उन्हें किसी से द्वेष नहीं था, पर जो लोग समाज और धर्म की पवित्रता को नष्ट करने में लगे हुए थे उन्हें फटकारने से भी वह नहीं चूके। उन्होंने उनके केवल पाखण्डपूर्ण कार्यों पर गहरी चोट की, उन सिद्धान्तों पर नहीं जिन पर उनका मत आश्रित था। वह अपने लिए जिस विचार स्वातंत्र्य को उपयुक्त और अपेक्षित समझते थे उसके लिए उन्होंने कभी किसी को दोषी नहीं ठहराया। उन्होंने सब को छूट दी, सब को सोचने-समझने का अवसर दिया। इसीलिए किसी मत विशेष का प्रवर्तन भी उन्होंने नहीं किया। उनके सिद्धान्तों को समझने में जो कठिनाई होती है, उसका यह एक प्रमुख कारण है। एक दूसरी कठिनाई भी है और यह कि वह दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं भी दार्शनिक होने का दावा नहीं किया। उनकी विचार-धारा सीधी-सादी थी। अपनी बुद्धिवादिता में वह तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्त्व देते थे। साधना के प्रश्न को तर्क-द्वारा हल करनेवालों को वह मोटी बुद्धिवाला कहते थे। 'कहत कबीर तरक जो साधै ताकी मति है मोटी'—कहकर उन्होंने तार्किकों का उपहास भी किया था। वह धर्म, राजनीति

और समाज के क्षेत्र में समरसता लाने के पक्षपाती थे। इसके लिए अनुभूति ही अपेक्षित है, तर्क नहीं। तर्क-द्वारा हम शीघ्र किसी निश्चय पर नहीं पहुँचते। शास्त्रीय तर्क के अभाव में इसीलिए कबीर को समझना कठिन हो जाता है।

कबीर के सिद्धान्तों को समझने में और भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। उनकी रचनाओं में हमें इतने विभिन्न मतों की चर्चा मिलती है और उनमें से कई की ओर वह इस प्रकार आकृष्ट जान पड़ते हैं कि उनके आधार पर हम उन्हें कभी वेदान्ती, कभी सूफी, कभी सगुणवादी, कभी निर्गुणवादी, कभी ज्ञानी, कभी भक्त और कभी योगी समझने लगते हैं। हमारी इस प्रकार की भ्रान्तपूर्ण धारणा का कारण यह है कि उनकी सिद्धान्त-सम्बन्धी समस्त बातें हमें विशेष स्थलों पर एकत्र नहीं मिलतीं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक पद ऐसे हैं जिनमें अनेक बातों का समावेश पाया जाता है। एक ही विचार-धारा को व्यक्त करनेवाले पदों में सामंजस्य का अभाव है। ऐसा लगता है कि जब जो बात उनकी अनुभूति में आई तब उन्होंने उसे पद्यबद्ध कर दिया। उनकी रचनाओं में काल-क्रम का अभाव भी एक ऐसी बाधा है जिसके कारण उनके आध्यात्मिक विकास की स्पष्ट रेखाएँ सामने नहीं आतीं और हम इधर-उधर टटोलते ही रह जाते हैं। उनकी रचनाओं का कोई प्रमाणित संस्करण भी उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी जो आलोचक उनकी रचनाओं के विचार-सागर में गहराई तक उतरे हैं उन्होंने उनके सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त किया है। सुविधा की दृष्टि से हम उनके सिद्धान्तों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) दार्शनिक सिद्धान्त और (२) सामाजिक सिद्धान्त। निम्न पंक्तियों में हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

(१) दार्शनिक सिद्धान्त—कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत तीन तत्वों की प्रधानता मिलती है—(१) परमतत्व, (२) जीवतत्व और (३) माया-तत्व। उनके **परमतत्व** पर औपनिषदीय ब्रह्मवाद का प्रभाव अवश्य है, पर उसकी व्याख्या उन्होंने अपनी अनुभूति के आधार पर की है। 'करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया' तथा 'चेतत चेतत निकसिओ नीरु।

सो जलु निरमल कथत कबीरु' ॥—में उन्होंने अपनी अनुभूति-द्वारा ही उस परमतत्व को प्राप्त करने की ओर संकेत किया है। दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने अपने परमतत्व को 'अगम', 'अगोचर', 'अलख', 'निरंजन', 'निराकार', 'निर्गुण' ही माना है। वह कहते हैं :—

बिन मुख खाइ, चरन बिन चालै,
बिन जिह्वा गुण गावै।

× × ×

जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ।

× × ×

अलख निरंजन लखै न कोई।
निरभै निराकार है सोई॥

× × ×

सुनि, असथूल, रूप नहिं रेखा।
द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहिं पेखा॥

× × ×

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा वैसा रहे, कहे कबीर विचारि॥

× × ×

पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ।
एक निराकार हृदय नमस्कारूँ॥

× × ×

वो है जैसा वो ही जाने।
ओ ही आहि, आहि नहिं आनै॥

× × ×

अविगत, अकल अनूप देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई॥

× × ×

अवगति की गति क्या कहूँ, जाकर गाँव न नांव ।
गुन बिहून का पेखिये काकर धरिए नांव ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ने अपने परमतत्व के निर्गुण रूप को ही अपना उपास्य माना है। हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, वेदांती और नाथपंथी मतों के अनुरूप हरि, गोविन्द, केशव, माधव, रहीम, करीम, गोरख आदि उसके अनेक नाम भी उन्होंने गिनाए हैं, पर उनमें से उन्हें उसके किसी नाम से संतोष नहीं होता। ऐसी दशा में अपने सन्तोष के लिए उन्होंने उसके साकार एवं सगुण रूप की भी कल्पना की है और फिर उसे सृष्टिकर्ता के रूप में चित्रित किया है। वह कहते हैं :—

आपन करता भये कुलाला। बहुविधि सृष्टि रची दर हाला।
विधना कुंभ किये द्वै थानां। प्रतिबिंब तामाहिं समाना॥

× × ×

जिनि यह चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहे कबीर ते जन भले जो चित्रवत लेहि विचार।

और इसके साथ ही 'भांनड़, घडण संवारण सोई' कहकर उसे नष्ट करने वाला, बनानेवाला और सुधारनेवाला भी बताते हैं। इस सगुण रूप के साथ ही उन्होंने उसके विराट रूप की भी कल्पना की है। इतना ही नहीं, उन्होंने उसे कहीं माता, कहीं पिता, कहीं पति और कहीं स्वामी के रूप में भी स्मरण किया है ;—

कोटि सूर जाके परगास, कोटि महादेव अरु कविलास।
दुर्गा कोटि जाके मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै॥

आदि कह कर उसके व्यापक रूप में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, इन्द्र, दुर्गा, धर्मराज, नदी, पर्वत, कला, विद्या—सब को एक साथ तिरोहित कर दिया है। विष्णु के पौराणिक रुपों की भी उन्होंने कल्पना की है और नरसिंह तथा कृष्णावतार का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने परमतत्व का निरूपण विभिन्न ढंगों से किया है। इनसे हमें उनके सत्य-निरूपण-संबधी प्रारंभिक प्रयोगों का ही आभास मिलता है। ऐसा

लगता है कि आरंभ में परमतत्व संबंधी जो विचार उनकी अनुभूति में आये होगें उनको उन्होंने अपने पदों में निःसंकोच व्यक्त कर दिया होगा, परन्तु कालांतर में जब उन्हें उसका रहस्य खुला होगा तब उन्होंने अपने पूर्व विचारों को 'धोखा' कह कर निम्न पदों की रचना की होगी :—

संतौ, धोखा कासूं कहिए ।
गुण में निरगुण, निरगुण में गुण है, बाट छाड़ि क्यों बहिये ।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई ।
नाति स्वरूप, वरण नहिं जाके, घटि-घटि रह्य समाई ।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई ।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई ।

× × ×

लोगा भरभिन भूलहू भोई ।
खालिकु खलक खलक महिं खालिकु पूरि रह्यो सब ठाईं ॥
माटी एक अनेक भांति कर साजी साजन हारे ।
न कछु पोच माटी के भाण्डे, न कछु पोच कुँभारै ॥
सब महि सच्चा एको सोई, तिसका किया सब कुछ होई ।

इन पदों से स्पष्ट है कि कबीर उस परमतत्व का अस्तित्व मात्र स्वीकार करते हैं, उसे किसी नाम से अभिहित करना नहीं चाहते। यही है उनके परमतत्व की व्याख्या जिसके अनुसार वह निर्गुण और सगुण—दोनों से परे है । वह न अजर-अमर है, न अलख-निरंजन है, न ब्रह्मांड और पिंड में है। वह है और घट-घट व्यापी होते हुए भी आदि-अन्त हीन है। वह कर्ता भी है, कृति भी। अपने कृति में वह स्वयं ओतप्रोत है । कबीर कहते हैं :—

बाजीगर डंक इजाई । सब खलक तमासे आई ॥
बाजीगर स्वांगु सकेला । अपने रंग रवै अकेला ॥

× × ×

जिनि नटवर नटसारी साजी । जो खेलै सो दीसे बाजी ॥

ऐसा है कबीर का परमतत्व जो अनिर्वचनीय है। शब्दों द्वारा उसका

वर्णन नहीं हो सकता। वह अगम और अज्ञेय है। अपने को वह स्वयं आप ही जानता है और दूसरा उसे केवल 'है' ही कह सकता है। अपनी-अपनी पहुँच और अनुभूति के अनुसार ही साधक को उसका किंचित परिचय प्राप्त होता है। वह परम सत्य है और उसी का प्रसार सारे विश्व में है।

कबीर के दार्शनिक सिद्धातों में दूसरा प्रमुख तत्व है जीव-तत्व। उन्होंने परमात्मा और जीवात्मा में कोई भेद नहीं माना है। 'खालिकु खलक खलक महिं खालिकु परि रह्यो सब ठाई'—कहकर वह हरि में पिंड और पिंड में ही हरि के अस्तित्व का समर्थन करते हैं। वह यह भी कहते हैं कि इस शरीर के भीतर समझी जानेवाली आत्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, न तपस्वी है, और न शेख ही है। 'कहै कबीर इहि राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु'—से यह स्पष्ट है कि उन्होंने उसे राम का, उस परमतत्व का अंश मात्र माना है जिस का नाश उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कागज के ऊपर से स्याही का चिह्न नहीं मिटता। उनका यह अंशाशि-भाव उनकी उन उक्तियों से भी स्पष्ट होता है जिनमें उन्होंने दोनों के संबंध को बिन्दु और समुद्र के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में जीव-तत्व मूलतः और तत्वतः वही है जो परम तत्व है। जीव-तत्व और परम-तत्व में विभिन्नता का अनुभव करनेवालों को उन्होंने फटकारा है और कहा है :—

दोइ कहै तिनही को दोजख, जिन नहिन पहिचाना।

× × ×

कहै कबीर तुरक दुई साधै; तिनकी मति है मोटी।

कबीर ने शरीरस्थ आत्मा के दो रूप माने हैं जिन्हें हम ज्ञाता या ज्ञेय अथवा द्रष्टा या दृष्य के नाम से अभिहित कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा प्राप्ता भी है और प्राप्तव्य भी। 'आप छिपाने आपै आप'—से उनका यही तात्पर्य है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने अपनी रचना 'कबीर की विचार-धारा' में कबीर की 'सुरति' को प्राप्ता आत्मा और निरतिको प्रातव्य आत्मा का शुद्ध मुक्त-स्वरूप माना है। जब सुरति अर्थात् प्राप्ता आत्मा का निरति अर्थात् प्राप्तव्य आत्मा

से तादात्म्यत् हो जाता है तब कल्याण और आनन्द की प्राप्ति होती है। कबीर ने कहा भी है :—

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भू दुवार।

यहाँ वह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक अद्वैत तत्व भिन्न रूपों में कैसे और क्यों दिखाई पड़ता है? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए उन्होंने प्रतिविम्ब-वाद की शरण ली है। 'ज्यों जल में प्रतिबिंब त्यों सकल रामहिं जानी जी,' में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार जल में बिम्ब के विवध प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार इस संसार में जीवात्मा के विविध रूप मिलते हैं। संक्षेप में यही हैं कबीर के जीवात्मा-संबंधी विचार जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह अद्वैतवादी थे।

अब कबीर के माया-तत्व को परखिए। हम अभी बता चुके हैं कि कबीर की दृष्टि में जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु साधारण लोगों की दृष्टि में ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसका मूल कारण है माया। संसार में जन्म लेना माया में फँसना है और माया ही उस परमतत्व से विलगाव का कारण है। वह कहते हैं:—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तथ्य कथ्यो ग्यानी॥

इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर डालनेवाली है केवल माया। इस माया को कबीर ने 'एक परम सुन्दरी' तथा 'विश्व मोहिनी' के रूप में चित्रित किया है।' इसका स्वभाव है ठगना और फँसाना। 'माया महा ठगिन हम जानी' साथ ही 'कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खाँड़' आदि से उनकी इसी भावना का आभास मिलता है। माया को उन्होंने नारी के रूप में ही नहीं; बेलि के रूप में भी चित्रित किया है और उसे अनिर्वचनीय माना है। वह कहते हैं :—

जो काँटों तो डह डही, सींची तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय॥

ऐसी माया को कबीर ने त्रिगुणात्मक माना है और कहा है कि उस परमतत्व ने उसे उत्पन्न करके उसमें अपने आप को छिपा लिया है। निम्न पदों से हमें उनकी इसी प्रकार की विचार-धारा का आभास मिलता है :—

रजगुण, तमगुण, सतगुण कहिये यह सब तेरी माया ॥

× × ×

सत, रज, तम, थैं कीन्हीं माया।
आपन माँझ आप छिपाया ॥

कबीर का यह भी विश्वास है कि माया अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण परिवर्तनशील है। इसलिए संसार की सभी वस्तुएँ माया-रूपिणी एवं परिवर्तनशीला हैं। 'कबीर माया डोलनी, पवन बहै हिवधार' में कबीर ने माया की गतिशीलता की पवन के प्रवाह से उपमा दी है। 'उपजै विनसै जेती सर्व माया'—से भी उसकी परिवर्तनशीलता का ही आभास मिलता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका जन्म और नाश दोनों होता है। उसी के कारण जीव आवागमन के इन्द्रजाल में फँसता है और यही दुःख का कारण है। अतः माया स्वभावतः दुःख-रूपिणी है। वह व्यभिचारिणी और बन्धन-रूपा भी है। 'मोर-तोर' की वही जननी है। काम, क्रोध, मोह, मद एवं मत्सर उसके पुत्र हैं जो लोगों को सदा विविध प्रकार का नाच नचाया करते हैं। वह इतनी आकर्षणमयी है कि उसे छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं छूटती। संसार में आदर, मान, जप-तप, व्रत, उपवास, तीर्थ-यात्रा, रोज़ा, नमाज़ जो कुछ है वह सब माया-प्रसूत ही है। वह जल, थल और आकाश सर्वत्र परिव्याप्त है। संसार का कोना-कोना उससे अभिभूत है। उसका निवास-स्थान है मन। 'इक डायन मेरे मन बसै, नित उठ मेरे जिय को डसै' कहकर कबीर ने माया के प्रभाव को स्पष्ट कर दिया है। 'माया मुई, न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर' द्वारा उन्होंने यह भी कह दिया है कि मन की भाँति ही माया भी अविनश्वर है और मन के सारे विकार उसी के संगी-साथी हैं। ऐसी है वह माया और ऐसा है उसका आकर्षक रूप। उसका आकर्षक रूप ही भगवान की भक्ति में बाधक है। वह भक्ति नहीं करने देती। कबीर कहते हैं :—

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण में उनका अपना ही हाथ था। वह कभी झिझके नहीं, कभी झुके नहीं, कभी अटके नहीं, कभी भटके नहीं। वह अपनी साधना, अपने विश्वासों और अपनी अनुभूतियों में बराबर आगे बढ़ते रहे और एक दिन वह आया जब वह अपने मार्ग की अनेक कठिनाइयों को दूर कर बंधन-मुक्त हो गये। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है कि 'हज़ार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नहीं उत्पन्न हुआ।'

कबीर संधि-काल के विचारक और समीक्षक थे। उनका समय दो परस्पर विरोधी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के संघर्ष का युग था। विजेता के रूप में आए हुए मुसलमान विजित हिन्दुओं के साथ जीवन के किसी भी क्षेत्र में समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। हिन्दू अपना सब कुछ देकर भी अपनी सभ्यता और संस्कृत की रक्षा करनें पर डटे हुए थे। ऐसी दशा में संघर्ष होना स्वभाविक ही था। इस संघर्ष का प्रभाव तत्कालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक तथा धार्मिक—पर पड़ रहा था और उनके दुखद परिणाम स्पष्ट होते जा रहे थे। साथ ही यह भी स्पष्ट होता जारहा था कि यदि विजेताओं को विजितों के साथ इसी देश में जमकर रहना है तो उन्हें यहाँ के जीवन-सिद्धान्तों के साथ किसी-न-किसी रूप में समझौता करना ही होगा। समझौते की यह भावना उच्च स्तर के लोगों की अपेक्षा निम्न अथवा अशिक्षित स्तर के लोगों में विशेष रूप से पनप रही थी। वे शान्तिपूर्वक रहकर अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहते थे। यह थी उस समय की प्रथम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या!

कबीर का महत्त्व

उपर्युक्त समस्या से ही संबंधित तत्कालीन भारतीय समाज की एक दूसरी समस्या भी थी। इस समस्या का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था से और गौणतः विदेशी जातियों से था। हिन्दू-सामाजिक व्यवस्था के जो दो स्तंभ—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्म—माने जाते हैं उनका आदि रूप निस्सन्देह आकर्षक, गतिशील और कल्याणकारी था, परन्तु समय के प्रभाव से

उनमें भी ऐसे दोष आ गए थे जिनके कारण हिन्दू समाज की एकता ही खतरे में पड़ गयी थी। वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच, छूत-अछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण की अकल्याणकारी भावनाओं से पूरित थी। इसी प्रकार आश्रम-धर्म भी निर्जीव हो रहा था। महात्मा गौतम बुद्ध ने इन दोनों स्तंभों के रूढ़ि-ग्रस्त रूपों को गति देने की चेष्टा की थी, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। क्यों? इसलिए कि वर्ण-व्यवस्था और आश्रम धर्म की जड़ें इतनी दृढ़ और समाज की मानसिक भाव-भूमि में इतनी गहरी धंसी हुई हैं कि उनका उन्मूलन किसी एक के बल-बूते का काम नहीं है। गौतम बुद्ध चले थे वर्ण-व्यवस्था का अन्त करने, परन्तु वह उसका अन्त करने के स्थान पर एक नई जाति को ही जन्म दे गये। यह उनके धर्म के स्वरूप का ही दोष था। बुद्ध धर्म एक प्रकार से भिक्षुओं का धर्म था। भिक्षुओं ने लोक-जीवन में रहकर जाति-भेद की व्यर्थता का लौकिक उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया। बौद्ध-श्रमण भी जाति-बन्धन से मुक्त होकर उसकी व्यर्थता पर आघात न कर सके। इस प्रकार के जाति-बन्धन-विरोधी आन्दोलन आगे भी हुए, परन्तु उनके सबके साथ भी यही विडम्बना थी। ऐसी विडम्बना के फलस्वरूप जाति-बन्धन शिथिल होने के स्थान पर और भी रूढ़ि-ग्रस्त होते जा रहे थे। कबीर के समय में तो उनके रूढ़ि-ग्रस्त होने के और भी कारण प्रस्तुत हो गए थे। शक, हूण, ग्रीक, कुशन, सिथियन आदि जो भी विदेशी बर्बर जातियाँ भारत में आयी थीं, उनकी सांस्कृतिक स्थिति नगण्य थी। इसलिए कालान्तर में वे भारतीय जन-समूह का अंग बन गयीं। इस्लामी सभ्यता उच्च कोटि की सभ्यता थी। आर्य-संस्कृति के लिए उसको पचाना सरल काम नहीं था। उसमें दो विशेषताएँ थीं—एक तो जातीय भ्रातृ-भाव और दूसरी सामूहिक साधना। उसकी इन्हीं दोनों विशेषताओं की ओर वर्ण-व्यवस्था से पीड़ित और आश्रम-धर्म से ऊबे हुए लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसी दशा में वर्णाश्रम-धर्म के बंधन शिथिल न होकर और भी जकड़ गए। इस्लाम की भी कुछ ऐसी ही दशा हुई। उसने जिस बर्बता से संसार के अन्य देशों में सफलता प्राप्त की थी वह भारतीय अहिंसात्मक प्रवृत्ति के सामने कुंठित हो गयी। अपने धार्मिक सिद्धान्तों के

प्रचार में उसे अपनी बर्बरता पर ही विश्वास था। भारतीय वातावरण
उसका वह विश्वास जाता रहा और वह भी धीरे-धीरे रूढ़ि-ग्रस्त हो गया—
इतना रूढ़िग्रस्त हो गया कि उसमें भी दो दल हो गए। इनमें से एक दल
उन मुसलमानों का जिनमें विशुद्ध तुर्की अथवा अरबी रक्त था और दूसरा द
था उन नए मुसलमानों का जिन्होंने वर्णाश्रम-धर्म की जटिलता से ऊबक
इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। भारत की तत्कालीन इस्लामी राजनीति
इन दोनों दलों ने पूरा भाग लिया था और सच पूछिए तो यही भारत व
इस्लामी सल्तन्तों के विनाश का कारण हुआ। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमा
दोनों अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं से त्रस्त एवं पीड़ित थे। अतए
आवश्यकता थी ऐसी सामाजिक व्यवस्था की जो एक ओर तो दोनों को रूढ़िय
से मुक्त कर दे और दूसरी ओर उनमें भ्रातृ-भाव का संचार करे।

एक तीसरी समस्या भी थी और वह थी तत्कालीन भारतीय साधना
पद्धतियों को रूढ़ि-मुक्त करना। हम बता चुके हैं कि कबीर के समय में (१
सगुण भक्ति के अन्तर्गत वैष्णव, शैव तथा शाक्त सम्प्रदाय, (२) निर्गुण भक्ति
के अन्तर्गत हिन्दू-संत, एकेश्वरवादी मुसलमान तथा प्रेम-मार्गी सूफ़ी (३) बौद्ध
का सहजयानी सम्प्रदाय तथा (४) नाथ-पंथी सम्प्रदाय की धूम थी। इस्लाम
धर्म में दो दल थे—एक तो था कट्टर एकेश्वरवादी मुसलमानों का दूसर
था सूफ़ी-मतवालों का। कट्टर एकेश्वरवादी शिया और सुन्नी में विभाजित थे
सूफ़ी-सम्प्रदाय के लोग कट्टर एकेश्वरवादी मुल्लाओं के साथ नहीं थे। उन्हे
बल था सात्विक वृत्ति के मुसलमानों का, परन्तु यह लोग भी कई सम्प्रदायों
विभक्त थे। कबीर के समय में इन सम्प्रदायों की संख्या लगभग १४ तक पहुँच
चुकी थी जिनमें चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, क़ादरी सम्प्रदाय औ
नक़शबन्दी सम्प्रदाय प्रमुख थे। साधना के क्षेत्र में इन सभी सम्प्रदायों तथ
मतों का अपना-अपना महत्व था, परन्तु उनके रूढ़ि-ग्रस्त हो जाने से उनक
प्रवाह रुक-सा गया था और उनमें संकीर्णता आ गयी थी। इसलिए एक म
अथवा सम्प्रदाय के लोग दूसरे मतवालों को घृणा की दृष्टि से देखते थे

मानव-कल्याण के लिए यह स्थिति अत्यन्त भयावह थी। इसलिए अन्य समस्याओं की भाँति इन समस्या पर भी विचार करना परम आवश्यक था।

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर के समय की जिन आवश्यकताओं एवं समस्याओं की ओर संकेत किया गया है उन पर विचार और विचार के अनुसार सुधार करनेवालों के उस समय दो दल थे—एक दल तो था उन विचारकों का जो समस्त साधना-पद्धतियों की रूढ़ि-ग्रस्त परंपराओं को स्वीकार करते हुए युग के अनुकूल उनकी नवीन व्याख्या करना चाहते थे। वे प्राचीनता के पक्षपाती तो थे, पर नवीनता के विरोधी नहीं थे। दूसरे प्रकार के विचारक क्रान्तिकारी थे। वे समस्त रूढ़ियों को अस्वीकार करके भारतीय समाज की नये दृष्टि-कोण से व्यवस्था करना चाहते थे। यदि व्यास, शंकराचार्य, रामानुज, तुलसीदास प्रथम वर्ग के सुधारक थे तो बुद्ध, अश्व घोष, नागार्जुन, गोरख और कबीर द्वतीय वर्ग के। कबीर प्रचीनतावादी अथवा रूढ़िवादी नहीं थे। वह प्रगतिशील थे। वह समाज तथा धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर ही चोट करना चाहते थे। विजेता और विजित, हिन्दू और मुसलमान, शिया और सुन्नी, कट्टर एकश्वरवादी और सूफी मतवादी, योगी और भक्त, वैष्णव और शैव, बौद्ध और जैन, ऊँच और नीच, धनी और निर्धन, छूत और अछूत, ब्रह्म और ईश्वर--तात्पर्य यह कि इस प्रकार के जितने भी भेद-विभेद थे वह उन सबका अन्तकर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सब भाई-भाई की तरह रहें और धर्म के क्षेत्र में अपनी व्यक्तिगत साधना में विश्वास करें। कबीर का यही दृष्टिकोण उनके महत्व का सूचक है।

कबीर अपने समय की उपज थे। उन्होंने स्वयं अपना नेतृत्व और निर्माण किया था। वह द्रष्टा और युगप्रवर्तक थे। उन्होंने व्यक्ति की धार्मिक प्रवृत्तियों का अपनी दृष्टि से संस्कार किया और अपनी पाखंडरहित वाणी से तत्कालीन जनता के जीवन को अनुप्राणित किया। उनके पहले कई धार्मिक नेता हो चुके थे, परन्तु उनमें अप्रिय सत्य कहने का साहस नहीं था। कबीर ने इस अभाव की पूर्ति की। भक्त-कवियों की विनयशीलता और आत्म-भर्त्सना के बीच उन्होने स्पष्ट रूप से धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की पक्षपात रहित

आलोचना की। उन्होंने जहाँ परम्परागत हिन्दू-धर्म के कर्म-काण्ड से निर्भीक स्वर में लोहा लिया, वहाँ भारत में जड़ पकड़नेवाली इस्लाम की नवीन सांप्रदायिक भावना की भी कटु शब्दों में भर्त्सना की। इस प्रकार उन्होंने दोनों धर्मों की अधार्मिकता पर समान रूप से प्रहार किया। उपासना क्षेत्र में वह व्यक्तिगत साधना के पक्षपाती थे। वह चाहते थे साधक को स्वावलम्बी एवं आत्मविश्वासी बनाना। इसलिए समाज के संगठन में वह विशेष सफल नहीं हो सके। फिर भी उनके इस विचार ने शास्त्रीय जटिलताओं को सुलझा कर धर्म को इतना सरल और जीवन-परक बना दिया कि साधारण जनता भी उससे अन्तःप्रेरणाएँ लेने में सफल हो सकी। इतना ही नहीं, जो लोग धर्म का शास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण भौतिक ऐश्वर्य से आकर्षित होकर धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार हो जाते थे, उन्हें कबीर की पक्षपातरहित वाणी से अपने धर्म पर आरूढ़ रहने का बल मिला। इस प्रकार मुसलमानी कुल में मुसलमानी संस्कृति के बीच पोषित होकर भी उन्होंने ऐसे सार्वजनीन सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनसे हिन्दू-धर्म को भी अपने स्थान पर स्थिर रहने की क्षमता एवं दृढ़ता प्राप्त हुई। उन्होंने दोनों धर्मों के बीच समभाव की प्रतिष्ठा की। उनके विचार सब के लिए समान थे। उनके हृदय में हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए समान रूप से स्थान प्राप्त था। उनका धर्म मानव के लिए था, उस मानव के लिए जिसके हृदय में ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो, धर्म का पाखण्ड न हो। हिन्दू-धर्म के जाति-बंधन के वह कटु आलोचक थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र धनवान और निर्धन—सब समान थे। अपनी इसी सम दृष्टि के कारण वह साधारण हिन्दू-जनता में रामानन्द की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए। उपासना के क्षेत्र में रामानन्द अधिक व्यावहारिक न थे, कबीर व्यावहारिक थे। इसलिए कबीर को रामानन्द की अपेक्षा अपने सिद्धान्तों के प्रचार में अधिक सफलता मिली।

तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र में कबीर का महत्त्व उनके सम-भाव के सिद्धान्त के कारण ही था। उनका यह समभाव उनके मनन और चिन्तन का परिणाम

था। वह स्वतंत्र प्रवृत्ति के साधक थे। वह अपनी आत्मा के सच्चे और निर्भीक अनुचर थे और उसी का चित्र अपनी वाणी-द्वारा उतारा करते थे। उन्हें किसी की चिन्ता नहीं थी। वह अपनी आत्मा की ध्वनि पर मनन करते थे और उसी का प्रचार करते थे। उन्होंने समाज की मनोवृत्तियों के अनुसार अपने धार्मिक सिद्धान्तों का निर्माण न करके अपने स्वनिर्मित-सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति का निर्माण किया। इसीलिए वह अपने समय के सभी सुधारकों, संतों और धर्म-प्रवर्तकों से पृथक थे। वह क्रान्तिकारी और युग-प्रवर्तक थे। उनके सिद्धान्त उनके अपने सिद्धान्त थे, उनकी विचार-धारा उनकी अपनी विचार-धारा थी। उन्होंने जो कुछ कहा, हृदय की प्रेरणा से ही कहा। इसलिए उनका सन्देश सत्पुरुष का सन्देश था। वह संत पहले और कवि बाद को थे। उनमें धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान था, काव्यगत दृष्टिकोण गौण। उन्होंने साहित्य के लिए गीत नहीं गाये, चित्रकारी के उद्देश्य से चित्र नहीं खींचे। उन्होंने जनता के हृदय को परिष्कृत करने, उसे धार्मिक भावना से अनुप्राणित करने और उसे सत्य की ज्योति से जगमगाने के लिए अपनी वाणी को मुखरित किया। वह भाषा के पारखी नहीं थे। छन्दों का उन्हें ज्ञान नहीं था। अलङ्कारों के वह पंडित नहीं थे। वह किसी शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उन्हें जैसी भाषा मिली, जो छन्द मिले उसी में उन्होंने अपने हृदय के सत्य को चित्रित किया। उनकी अनुभूति और ज्ञान का आधार था—जीवन की खुली पुस्तक। इसीलिए उनके तर्कों में उनका अपनापन था, आत्मविश्वास की अद्भुत आभा थी।

भाषा की दृष्टि से भी कबीर का महत्व कम नहीं है। अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता तक उन्हीं की भाषा में पहुँचाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उनके समय में भाषा बन रही थी। उसका रूप निखर रहा था। उसमें साहित्य नहीं के बराबर था। कबीर ने सबसे पहले उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। उन्होंने जीवन की जटिल समस्याओं को तत्कालीन जनता की भाषा में सुलझाकर अप्रत्यक्ष रूप से उसका महत्व बढ़ा दिया। फलतः भविष्य में वही भाषा परिष्कृत होकर साहित्य का माध्यम बन गई।

कबीर विचारक संत थे। 'मसि-कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं

हाथ' से यह भी ध्वनित होता है कि उन्होंने अपने विचारों को लिपि-वद्ध भी नहीं किया, केवल मौखिक रूप से ही लोगों को उपदेश देते रहे। पुस्तक-ज्ञान को भी उन्होंने अपने जीवन में महत्व नहीं दिया। 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई', में जो व्यंग है वह उन्हीं पंडितों के प्रति है जो केवल पुस्तक-ज्ञान के आधार पर अपने पांडित्य का प्रदर्शन करते थे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ग्रन्थ-रचना को भी महत्व नहीं दिया। ऐसा लगता है कि साधु-संतों के सत्संग के अवसरों पर आवश्यकतानुसार वह पद-रचना करते रहे होंगे और उसे उनके श्रद्धालु शिष्य लिपि-वद्ध कर लेते रहे होंगे। आज उनकी जो भी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं वे सब उनके शिष्यों-द्वारा ही लिखी गयी हैं। यही कारण है कि उनमें मनमाने परिवर्तन मिलते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों-द्वारा उनके लिपि-बद्ध होने के कारण उनमें भाषा और भाव की अनेक भूलें तो हैं ही, साथ ही उनमें ऐसे पद भी अधिक हैं जिन पर कबीर के व्यक्तित्व की छाप नहीं है। यही कारण है कि अबतक उनकी रचनाओं का शुद्ध पाठ हमारे सामने नहीं आ पाया है।

कबीर की रचनाएँ

कबीर ने अनेक पदों की रचना की है। कबीर-पंथियों का तो यहाँ तक विश्वास है कि 'सद्‌गुरु की वाणियों का कहीं अन्त नहीं है'। हम ऐसा नहीं समझते। हमारा विश्वास है कि कबीर की रचनाओं की एक सीमा है, उनकी एक वास्तविक संख्या है। इस समय तक उनके नाम से जो ग्रन्थ मिलते हैं और जिनमें उनकी रचनाएँ संगृहीत हैं उनमें 'बीजक', 'आदि ग्रन्थ' तथा 'कबीर ग्रन्थावली' का विशिष्ट स्थान है। 'कबीर-बीजक' कबीर-पंथ के अनुयायियों का धर्म-ग्रन्थ है। इसमें बहुत से ऐसे पद हैं जो न तो 'आदि-ग्रन्थ' में मिलते हैं और न 'कबीर-ग्रन्थावली, में। भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी यह उक्त दोनों ग्रन्थों से मेल नहीं खाता। इसमें तीन प्रकार के छन्दों की प्रधानना है (१) साखी, (२) सबद और (३) रमैनी। 'साखी' का अर्थ है—साक्ष्य, साक्षात्यकार, ज्ञान, अनुभव, दोहों में सन्तों की अनुभव-वाणी। कबीर ने अपने दोहों साखियों—में साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया है, पाखण्डपूर्ण धार्मिक कृत्यों

पर तीव्र व्यंग किया है और अपने सिद्धान्तों की विवेचना की है। इस प्रकार उनके अधिकांश दोहे नीति और उपदेश से भरे हुए हैं। 'रमैनी' से तात्पर्य है कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा। कबीर की रमैनी में दोहे के पूर्व चौपाइयों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। कहीं-कहीं चौपाइयों के पश्चात दोहे भी नहीं हैं। 'सबद' में गेय पद हैं। इनमें कबीर की अनुभूतियों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण मिलता है। इन छन्दों के अतिरिक्त इसमें ककहरा, बसन्त, चाँचरी, बेली, बिरहूली, हिंडोला आदि छन्द भी मिलते हैं। 'आदि-ग्रन्थ' पंजाबी में हैं। इसमें 'सबदों' का महत्व है। साथ ही इसमें कबीर की कुछ ऐसी रचनाएँ भी संगृहीत हैं जो उनके व्यक्तिगत जीवन पर बहुत स्पष्ट प्रकाश डालती हैं। 'कबीर-ग्रन्थावली' का संपादन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया है। इसके प्रणयन में 'श्री कबीर जी की वाणी' तथा 'आदि-ग्रन्थ' से विशेष सहायता ली गयी है।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कबीर की रचनाओं के अन्य छोटे-छोटे संग्रह भी मिलते हैं। इन संग्रहों का प्रकाशन एक विशिष्ट दृष्टि कोण से ही किया गया है। कबीर की रचनाओं का जैसा प्रमाणिक संस्करण होना चाहिए, वैसा अभी नहीं हो पाया है। प्रसन्नता की बात है कि इस ओर हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान गया है और निकट भविष्य में हमारी यह कठिनाई हल होने की पूरी संभावना है।

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्त

कबीर को कहाँ से क्या मिला, कितना मिला और उसे उन्होंने किस प्रकार अपनी अनुभूति का विषय बनाकर किस उद्देश्य से और किस रूप में जनता के सामने पुस्तुत किया?—इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। हम केवल यह देखेंगे कि वह अपनी धर्म-साधना में सोलह आना भारतीय धर्म-साधना से प्रभावित थे अथवा नहीं? इस दृष्टि से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि उन्हें शरीर मुसलमान-दम्पतियों से प्राप्त हुआ था, तथापि उनका मन, उनका हृदय तथा उनका मस्तिष्क उन हिन्दू-मनीषियों, ऋषियों और चिन्तकों का था जो संसार के माया-मोह से विरक्त होकर अपनी व्यक्तिगत साधना में पारंगत थे। वह एकान्त साधक थे। उनके उपदेशों

को कौन ग्रहण करता है, कौन नहीं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वह बहुत ऊँचे उठे हुए साधक थे। वह न तो किसी के गुरु थे, न किसी के शिष्य। स्वामी रामानन्द के उपदेशों से उन्हें जो प्रेरणा मिली थी उसे भी उन्होंने तबतक स्वीकार नहीं किया जबतक उन्होंने उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर भलीभांति कस नहीं लिया। वह जागरूक और बुद्धिवादी थे। किसी भी मत में उनका विश्वास नहीं था। वेद, पुराण, शास्त्र, क़ुरान आदि धर्म-ग्रंथों और उनके प्रणेताओं के प्रति आदर की दृष्टि से देखते हुए भी उन्होंने उनके विचारों को स्वीकार नहीं किया। वह किसी भी धर्म को असत्य अथवा कपोल-कल्पित नहीं समझते थे। सब धर्म सत्य पर ही आधारित हैं—ऐसा वह मानते थे, पर उस सत्य को उन्होंने यों ही स्वीकार नहीं किया। अंध-विश्वास को वह अपनी साधना के लिए विष समझते थे। उनकी दृष्टि में अज्ञानी और मूर्ख वह था जो बिना सोचे-समझे, बिना विचारे ही दूसरों की अनुभूतियों को सत्य मान लेता था। ऐसे ही व्यक्तियों की उन्होंने आलोचना की। उन्हें किसी से द्वेष नहीं था, पर जो लोग समाज और धर्म की पवित्रता को नष्ट करने में लगे हुए थे उन्हें फटकारने से भी वह नहीं चूके। उन्होंने उनके केवल पाखण्डपूर्ण कार्यों पर गहरी चोट की, उन सिद्धान्तों पर नहीं जिन पर उनका मत आश्रित था। वह अपने लिए जिस विचार स्वातंत्र्य को उपयुक्त और अपेक्षित समझते थे उसके लिए उन्होंने कभी किसी को दोषी नहीं ठहराया। उन्होंने सब को छूट दी, सब को सोचने-समझने का अवसर दिया। इसीलिए किसी मत विशेष का प्रवर्तन भी उन्होंने नहीं किया। उनके सिद्धान्तों को समझने में जो कठिनाई होती है, उसका यह एक प्रमुख कारण है। एक दूसरी कठिनाई भी है और यह कि वह दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं भी दार्शनिक होने का दावा नहीं किया। उनकी विचार-धारा सीधी-सादी थी। अपनी बुद्धिवादिता में वह तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्त्व देते थे। साधना के प्रश्न को तर्क-द्वारा हल करनेवालों को वह मोटी बुद्धिवाला कहते थे। 'कहत कबीर तरक जो साधै ताकी मति है मोटी'—कहकर उन्होंने तार्किकों का उपहास भी किया था। वह धर्म, राजनीति

और समाज के क्षेत्र में समरसता लाने के पक्षपाती थे। इसके लिए अनुभूति ही अपेक्षित है, तर्क नहीं। तर्क-द्वारा हम शीघ्र किसी निश्चय पर नहीं पहुँचते। शास्त्रीय तर्क के अभाव में इसीलिए कबीर को समझना कठिन हो जाता है।

कबीर के सिद्धान्तों को समझने में और भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। उनकी रचनाओं में हमें इतने विभिन्न मतों की चर्चा मिलती है और उनमें से कई की ओर वह इस प्रकार आकृष्ट जान पड़ते हैं कि उनके आधार पर हम उन्हें कभी वेदान्ती, कभी सूफी, कभी सगुणवादी, कभी निर्गुणवादी, कभी ज्ञानी, कभी भक्त और कभी योगी समझने लगते हैं। हमारी इस प्रकार की भ्रान्तपूर्ण धारणा का कारण यह है कि उनकी सिद्धान्त-सम्बन्धी समस्त बातें हमें विशेष स्थलों पर एकत्र नहीं मिलतीं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक पद ऐसे हैं जिनमें अनेक बातों का समावेश पाया जाता है। एक ही विचार-धारा को व्यक्त करनेवाले पदों में सामंजस्य का अभाव है। ऐसा लगता है कि जब जो बात उनकी अनुभूति में आई तब उन्होंने उसे पद्यबद्ध कर दिया। उनकी रचनाओं में काल-क्रम का अभाव भी एक ऐसी बाधा है जिसके कारण उनके आध्यात्मिक विकास की स्पष्ट रेखाएँ सामने नहीं आतीं और हम इधर-उधर टटोलते ही रह जाते हैं। उनकी रचनाओं का कोई प्रमाणित संस्करण भी उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी जो आलोचक उनकी रचनाओं के विचार-सागर में गहराई तक उतरे हैं उन्होंने उनके सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त किया है। सुविधा की दृष्टि से हम उनके सिद्धान्तों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) दार्शनिक सिद्धान्त और (२) सामाजिक सिद्धान्त। निम्न पंक्तियों में हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

(१) दार्शनिक सिद्धान्त—कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत तीन तत्वों की प्रधानता मिलती है—(१) परमतत्व, (२) जीवतत्व और (३) माया-तत्व। उनके **परमतत्व** पर औपनिषदीय ब्रह्मवाद का प्रभाव अवश्य है, पर उसकी व्याख्या उन्होंने अपनी अनुभूति के आधार पर की है। 'करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया' तथा 'चेतत चेतत निकसिओ नीरु।

खो जलु निरमल कथत कबीरु' ।।—में उन्होंने अपनी अनुभूति-द्वारा ही उस परमतत्व को प्राप्त करने की ओर संकेत किया है। दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने अपने परमतत्व को 'अगम', 'अगोचर', 'अलख', 'निरंजन', 'निराकार', 'निर्गुण' ही माना है। वह कहते हैं :—

बिन मुख खाइ, चरन बिन चालै,
बिन जिह्वा गुण गावै।

× × ×

जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ।

× × ×

अलख निरंजन लखै न कोई।
निरभै निराकार है सोई॥

× × ×

सुनि, असथूल, रूप नहिं रेखा।
द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहिं पेखा॥

× × ×

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा वैसा रहे, कहे कबीर विचारि॥

× × ×

पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ।
एक निराकार हृदय नमस्कारूँ॥

× × ×

वो है जैसा वो ही जानै।
ओ ही आहि, आहि नहिं आनै॥

× × ×

अविगत, अकल अनूप देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई॥

× × ×

अवगति की गति क्या कहूँ, जाकर गाँव न नांव ।
गुन बिहून का पेखिये काकर धरिए नांव ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ने अपने परमतत्व के निर्गुण रूप को ही अपना उपास्य माना है। हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, वेदांती और नाथपंथी मतों के अनुरूप हरि, गोविन्द, केशव, माधव, रहीम, करीम, गोरख आदि उसके अनेक नाम भी उन्होंने गिनाए हैं, पर उनमें से उन्हें उसके किसी नाम से संतोष नहीं होता। ऐसी दशा में अपने सन्तोष के लिए उन्होंने उसके साकार एवं सगुण रूप की भी कल्पना की है और फिर उसे सृष्टिकर्ता के रूप में चित्रित किया है। वह कहते हैं :—

आपन करता भये कुलाला। बहुविधि सृष्टि रची दर हाला।
विधना कुंभ किये द्वै थानां। प्रतिबिंब तामाहिं समाना ॥

× × ×

जिनि यह चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहे कबीर ते जन भले जो चित्रवत लेहि विचार।

और इसके साथ ही 'भांनड़, घडण संवारण सोई' कहकर उसे नष्ट करने वाला, बनानेवाला और सुधारनेवाला भी बताते हैं। इस सगुण रूप के साथ ही उन्होंने उसके विराट रूप की भी कल्पना की है। इतना ही नहीं, उन्होंने उसे कहीं माता, कहीं पिता, कहीं पति और कहीं स्वामी के रूप में भी स्मरण किया है ;—

कोटि सूर जाके परगास, कोटि महादेव अरु कविलास ।
दुर्गा कोटि जाके मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उचरै ॥

आदि कह कर उसके व्यापक रूप में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, इन्द्र, दुर्गा, धर्मराज, नदी, पर्वत, कला, विद्या—सब को एक साथ तिरोहित कर दिया है। विष्णु के पौराणिक रूपों की भी उन्होंने कल्पना की है और नरसिंह तथा कृष्णावतार का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने परमतत्व का निरूपण विभिन्न ढंगों से किया है। इनसे हमें उनके सत्य-निरूपण-संबधी प्रारंभिक प्रयोगों का ही आभास मिलता है। ऐसा

लगता है कि आरंभ में परमतत्व संबंधी जो विचार उनकी अनुभूति में आये होगें उनको उन्होंने अपने पदों में निःसंकोच व्यक्त कर दिया होगा, परन्तु कालांतर में जब उन्हें उसका रहस्य खुला होगा तब उन्होंने अपने पूर्व विचारों को 'धोखा' कह कर निम्न पदों की रचना की होगी :—

संतौ, धोखा कासूं कहिए ।
गुण में निरगुण, निरगुण में गुण है, बाट छाड़ि क्यों बहिये ।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई ।
नाति स्वरूप, वरण नहिं जाके, घटि-घटि रह्य समाई ।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई ।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई ।

× × ×

लोगा भरमिन भूलहू भोई ।
खालिकु खलक खलक महिं खालिकु पूरि रह्यो सब ठाईं ॥
माटी एक अनेक भांति कर साजी साजन हारे ।
न कछु पोच माटी के भाण्डे, न कछु पोच कुँभारे ॥
सब महि सच्चा एको सोई, तिसका किया सब कुछ होई ।

इन पदों से स्पष्ट है कि कबीर उस परमतत्व का अस्तित्व मात्र स्वीकार करते हैं, उसे किसी नाम से अभिहित करना नहीं चाहते। यही है उनके परमतत्व की व्याख्या जिसके अनुसार वह निर्गुण और सगुण—दोनों से परे है। वह न अजर-अमर है, न अलख-निरंजन है, न ब्रह्मांड और पिंड में है। वह है और घट-घट व्यापी होते हुए भी आदि-अन्त हीन है। वह कर्ता भी है, कृति भी। अपने कृति में वह स्वयं ओतप्रोत है। कबीर कहते हैं :—

बाजीगर डंक इजाई । सब खलक तमासे आई ॥
बाजीगर स्वांगु सकेला । अपने रंग रवै अकेला ॥

× × ×

जिनि नटवर नटसारी साजी । जो खेलै सो दीसे बाजी ॥

ऐसा है कबीर का परमतत्व जो अनिर्वचनीय है। शब्दों द्वा

वर्णन नहीं हो सकता। वह अगम और अज्ञेय है। अपने को वह स्वयं आप ही जानता है और दूसरा उसे केवल 'है' ही कह सकता है। अपनी-अपनी पहुँच और अनुभूति के अनुसार ही साधक को उसका किंचित परिचय प्राप्त होता है। वह परम सत्य है और उसी का प्रसार सारे विश्व में है।

कबीर के दार्शनिक सिद्धांतों में दूसरा प्रमुख तत्व है जीव-तत्व। उन्होंने परमात्मा और जीवात्मा में कोई भेद नहीं माना है। 'खालिकु खलक खलक महिं खालिकु परि रह्यो सब ठाईं'—कहकर वह हरि में पिंड और पिंड में ही हरि के अस्तित्व का समर्थन करते हैं। वह यह भी कहते हैं कि इस शरीर के भीतर समझी जानेवाली आत्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, न तपस्वी है, और न शेख ही है। 'कहै कबीर इहि राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु'—से यह स्पष्ट है कि उन्होंने उसे राम का, उस परमतत्व का अंश मात्र माना है जिस का नाश उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कागज के ऊपर से स्याही का चिह्न नहीं मिटता। उनका यह अंशाशि-भाव उनकी उन उक्तियों से भी स्पष्ट होता है जिनमें उन्होंने दोनों के संबंध को विन्दु और समुद्र के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में जीव-तत्व मूलतः और तत्वतः वही है जो परम तत्व है। जीव-तत्व और परम-तत्व में विभिन्नता का अनुभव करनेवालों को उन्होंने फटकारा है और कहा है :—

दोइ कहै तिनही को दोजख, जिन नहिन पहिचाना।

×			×			×

कहै कबीर तुरक दुई साधै; तिनकी मति है मोटी।

कबीर ने शरीरस्थ आत्मा के दो रूप माने हैं जिन्हें हम ज्ञाता या ज्ञेय अथवा द्रष्टा या दृष्य के नाम से अभिहित कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा प्राप्ता भी है और प्राप्तव्य भी। 'आप छिपाने आपै आप'—से उनका यही तात्पर्य है। डा० गोबिन्द त्रिगुणायत ने अपनी रचना 'कबीर की विचार-धारा' में कबीर की 'सुरति' को प्राप्ता आत्मा और निरतिको प्रातव्य आत्मा का शुद्ध मुक्त-स्वरूप माना है। जब सुरति अर्थात् प्राप्ता आत्मा का निरति अर्थात् प्राप्तव्य आत्मा

से तादात्म्यत् हो जाता है तब कल्याण और आनन्द की प्राप्ति होती है। कबीर ने कहा भी है :—

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भू दुवार।

यहाँ वह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक अद्वैत तत्व भिन्न रूपों में कैसे और क्यों दिखाई पड़ता है? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए उन्होंने प्रतिविम्ब-वाद की शरण ली है। 'ज्यों जल में प्रतिबिंब त्यों सकल रामहिं जानी जी,' में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार जल में बिम्ब के विवध प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार इस संसार में जीवात्मा के विविध रूप मिलते हैं। संक्षेप में यही हैं कबीर के जीवात्मा-संबंधी विचार जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह अद्वैतवादी थे।

अब कबीर के माया-तत्व को परखिए। हम अभी बता चुके हैं कि कबीर की दृष्टि में जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु साधारण लोगों की दृष्टि में ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसका मूल कारण है माया। संसार में जन्म लेना माया में फँसना है और माया ही उस परमतत्व से विलगाव का कारण है। वह कहते हैं:—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तथ्य कथ्यो ग्यानी॥

इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर डालनेवाली है केवल माया। इस माया को कबीर ने 'एक परम सुन्दरी' तथा 'विश्व मोहिनी' के रूप में चित्रित किया है।' इसका स्वभाव है ठगना और फँसाना। 'माया महा ठगिन हम जानी' साथ ही 'कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खाँड़' आदि से उनकी इसी भावना का आभास मिलता है। माया को उन्होंने नारी के रूप में ही नहीं; बेलि के रूप में भी चित्रित किया है और उसे अनिर्वचनीय माना है। वह कहते हैं :—

जो काँटों तो डह डही, सींची तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय॥

ऐसी माया को कबीर ने त्रिगुणात्मक माना है और कहा है कि उस परमतत्व ने उसे उत्पन्न करके उसमें अपने आप को छिपा लिया है। निम्न पदों से हमें उनकी इसी प्रकार की विचार-धारा का आभास मिलता है :—

रजगुण, तमगुण, सतगुण कहिये यह सब तेरी माया ॥

× × ×

सत, रज, तम, थैं कीन्हीं माया।
आपन माँझ आप छिपाया ॥

कबीर का यह भी विश्वास है कि माया अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण परिवर्तनशील है। इसलिए संसार की सभी वस्तुएँ माया-रूपिणी एवं परिवर्तनशीला हैं। 'कबीर माया डोलनी, पवन बहै हिवधार' में कबीर ने माया की गतिशीलता की पवन के प्रवाह से उपमा दी है। 'उपजै विनसै जेती सर्व माया'—से भी उसकी परिवर्तनशीलता का ही आभास मिलता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका जन्म और नाश दोनों होता है। उसी के कारण जीव आवागमन के इन्द्रजाल में फँसता है और यही दुःख का कारण है। अतः माया स्वभावतः दुःख-रूपिणी है। वह व्यभिचारिणी और बन्धन-रूपा भी है। 'मोर-तोर' की वही जननी है। काम, क्रोध, मोह, मद एवं मत्सर उसके पुत्र हैं जो लोगों को सदा विविध प्रकार का नाच नचाया करते हैं। वह इतनी आकर्षणमयी है कि उसे छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं छूटती। संसार में आदर, मान, जप-तप, व्रत, उपवास, तीर्थ-यात्रा, रोज़ा, नमाज़ जो कुछ है वह सब माया-प्रसूत ही है। वह जल, थल और आकाश सर्वत्र परिव्याप्त है। संसार का कोना-कोना उससे अभिभूत है। उसका निवास-स्थान है मन। 'इक डायन मेरे मन बसै, नित उठ मेरे जिय को डसै' कहकर कबीर ने माया के प्रभाव को स्पष्ट कर दिया है। 'माया मुई, न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर' द्वारा उन्होंने यह भी कह दिया है कि मन की भाँति ही माया भी अविनश्वर है और मन के सारे विकार उसी के संगी-साथी हैं। ऐसी है वह माया और ऐसा है उसका आकर्षक रूप। उसका आकर्षक रूप ही भगवान की भक्ति में वाधक है। वह भक्ति नहीं करने देती। कबीर कहते हैं :—

RAMAKRISHNA MISSION LIBRARY
MUTHIGANJ ALLAHABAD

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण में उनका अपना ही हाथ था। वह कभी झिझके नहीं, कभी झुके नहीं, कभी अटके नहीं, कभी भटके नहीं। वह अपनी साधना, अपने विश्वासों और अपनी अनुभूतियों में बराबर आगे बढ़ते रहे और एक दिन वह आया जब वह अपने मार्ग की अनेक कठिनाइयों को दूर कर बंधन-मुक्त हो गये। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है कि 'हज़ार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नहीं उत्पन्न हुआ।'

कबीर का महत्त्व

कबीर संधि-काल के विचारक और समीक्षक थे। उनका समय दो परस्पर विरोधी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के संघर्ष का युग था। विजेता के रूप में आए हुए मुसलमान विजित हिन्दुओं के साथ जीवन के किसी भी क्षेत्र में समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। हिन्दू अपना सब कुछ देकर भी अपनी सभ्यता और संस्कृत की रक्षा करने पर डटे हुए थे। ऐसी दशा में संघर्ष होना स्वभाविक ही था। इस संघर्ष का प्रभाव तत्कालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक तथा धार्मिक—पर पड़ रहा था और उनके दुखद परिणाम स्पष्ट होते जा रहे थे। साथ ही यह भी स्पष्ट होता जारहा था कि यदि विजेताओं को विजितों के साथ इसी देश में जमकर रहना है तो उन्हें यहाँ के जीवन-सिद्धान्तों के साथ किसी-न-किसी रूप में समझौता करना ही होगा। समझौते की यह भावना उच्च स्तर के लोगों की अपेक्षा निम्न अथवा अशिक्षित स्तर के लोगों में विशेष रूप से पनप रही थी। वे शान्तिपूर्वक रहकर अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहते थे। यह थी उस समय की प्रथम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या!

उपर्युक्त समस्या से ही संबंधित तत्कालीन भारतीय समाज की एक दूसरी समस्या भी थी। इस समस्या का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था से और गौणतः विदेशी जातियों से था। हिन्दू-सामाजिक व्यवस्था के जो दो स्तंभ—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्म—माने जाते हैं उनका आदि रूप निस्सन्देह आकर्षक, गतिशील और कल्याणकारी था, परन्तु समय के प्रभाव से

उनमें भी ऐसे दोष आ गए थे जिनके कारण हिन्दू समाज की एकता ही खतरे में पड़ गयी थी। वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच, छूत-अछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण की अकल्याणकारी भावनाओं से पूरित थी। इसी प्रकार आश्रम-धर्म भी निर्जीव हो रहा था। महात्मा गौतम बुद्ध ने इन दोनों स्तंभों के रूढ़ि-ग्रस्त रूपों को गति देने की चेष्टा की थी, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। क्यों? इसलिए कि वर्ण-व्यवस्था और आश्रम धर्म की जड़ें इतनी दृढ़ और समाज की मानसिक भाव-भूमि में इतनी गहरी धंसी हुई हैं कि उनका उन्मूलन किसी एक के बल-बूते का काम नहीं है। गौतम बुद्ध चले थे वर्ण-व्यवस्था का अन्त करने, परन्तु वह उसका अन्त करने के स्थान पर एक नई जाति को ही जन्म दे गये। यह उनके धर्म के स्वरूप का ही दोष था। बुद्ध धर्म एक प्रकार से भिक्षुओं का धर्म था। भिक्षुओं ने लोक-जीवन में रहकर जाति-भेद की व्यर्थता का लौकिक उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया। बौद्ध-श्रमण भी जाति-बन्धन से मुक्त होकर उसकी व्यर्थता पर आघात न कर सके। इस प्रकार के जाति-बन्धन-विरोधी आन्दोलन आगे भी हुए, परन्तु उनके सबके साथ भी यही विडम्बना थी। ऐसी विडम्बना के फलस्वरूप जाति-बन्धन शिथिल होने के स्थान पर और भी रूढ़ि-ग्रस्त होते जा रहे थे। कबीर के समय में तो उनके रूढ़ि-ग्रस्त होने के और भी कारण प्रस्तुत हो गए थे। शक, हूण, ग्रीक, कुशन, सिथियन आदि जो भी विदेशी बर्बर जातियाँ भारत में आयी थीं, उनकी सांस्कृतिक स्थिति नगण्य थी। इसलिए कालान्तर में वे भारतीय जन-समूह का अंग बन गयीं। इस्लामी सभ्यता उच्च कोटि की सभ्यता थी। आर्य-संस्कृति के लिए उसको पचाना सरल काम नहीं था। उसमें दो विशेषताएँ थीं—एक तो जातीय भ्रातृ-भाव और दूसरी सामूहिक साधना। उसकी इन्हीं दोनों विशेषताओं की ओर वर्ण-व्यवस्था से पीड़ित और आश्रम-धर्म से ऊबे हुए लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसी दशा में वर्णाश्रम-धर्म के बंधन शिथिल न होकर और भी जकड़ गए। इस्लाम की भी कुछ ऐसी ही दशा हुई। उसने जिस बर्बता से संसार के अन्य देशों में सफलता प्राप्त की थी वह भारतीय अहिंसात्मक प्रवृत्ति के सामने कुंठित हो गयी। अपने धार्मिक सिद्धान्तों के

प्रचार में उसे अपनी बर्बरता पर ही विश्वास था। भारतीय वातावरण में उसका वह विश्वास जाता रहा और वह भी धीरे-धीरे रूढ़ि-ग्रस्त हो गया—इतना रूढ़िग्रस्त हो गया कि उसमें भी दो दल हो गए। इनमें से एक दल था उन मुसलमानों का जिनमें विशुद्ध तुर्की अथवा अरबी रक्त था और दूसरा दल था उन नए मुसलमानों का जिन्होंने वर्णाश्रम-धर्म की जटिलता से ऊबकर इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। भारत की तत्कालीन इस्लामी राजनीति में इन दोनों दलों ने पूरा भाग लिया था और सच पूछिए तो यही भारत की इस्लामी सल्तन्तों के विनाश का कारण हुआ। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं से त्रस्त एवं पीड़ित थे। अतएव आवश्यकता थी ऐसी सामाजिक व्यवस्था की जो एक ओर तो दोनों को रूढ़ियों से मुक्त कर दे ओर दूसरी ओर उनमें भ्रातृ-भाव का संचार करे।

एक तीसरी समस्या भी थी और वह थी तत्कालीन भारतीय साधना-पद्धतियों को रूढ़ि-मुक्त करना। हम बता चुके हैं कि कबीर के समय में (१) सगुण भक्ति के अन्तर्गत वैष्णव, शैव तथा शाक्त सम्प्रदाय, (२) निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत हिन्दू-संत, एकेश्वरवादी मुसलमान तथा प्रेम-मार्गी सूफ़ी (३) बौद्धों का सहजयानी सम्प्रदाय तथा (४) नाथ-पंथी सम्प्रदाय की धूम थी। इस्लाम-धर्म में दो दल थे—एक तो था कट्टर एकेश्वरवादी मुसलमानों का दूसरा था सूफ़ी-मतवालों का। कट्टर एकेश्वरवादी शिया और सुन्नी में विभाजित थे। सूफ़ी-सम्प्रदाय के लोग कट्टर एकेश्वरवादी मुल्लाओं के साथ नहीं थे। उन्हें बल था सात्विक वृत्ति के मुसलमानों का, परन्तु यह लोग भी कई सम्प्रदायों में विभक्त थे। कबीर के समय में इन सम्प्रदायों की संख्या लगभग १४ तक पहुँच चुकी थी जिनमें चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, क़ादरी सम्प्रदाय और नक़शबन्दी सम्प्रदाय प्रमुख थे। साधना के क्षेत्र में इन सभी सम्प्रदायों तथा मतों का अपना-अपना महत्व था, परन्तु उनके रूढ़ि-ग्रस्त हो जाने से उनका प्रवाह रुक-सा गया था और उनमें संकीर्णता आ गयी थी। इसलिए एक मत अथवा सम्प्रदाय के लोग दूसरे मतवालों को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

मानव-कल्याण के लिए यह स्थिति अत्यन्त भयावह थी। इसलिए अन्य समस्याओं की भाँति इन समस्या पर भी विचार करना परम आवश्यक था।

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर के समय की जिन आवश्यकताओं एवं समस्याओं की ओर संकेत किया गया है उन पर विचार और विचार के अनुसार सुधार करनेवालों के उस समय दो दल थे—एक दल तो था उन विचारकों का जो समस्त साधना-पद्धतियों की रूढ़ि-ग्रस्त परंपराओं को स्वीकार करते हुए युग के अनुकूल उनकी नवीन व्याख्या करना चाहते थे। वे प्राचीनता के पक्षपाती तो थे, पर नवीनता के विरोधी नहीं थे। दूसरे प्रकार के विचारक क्रान्किारी थे। वे समस्त रूढ़ियों को अस्वीकार करके भारतीय समाज की नये दृष्टि-कोण से व्यवस्था करना चाहते थे। यदि व्यास, शंकराचार्य, रामानुज, तुलसीदास प्रथम वर्ग के सुधारक थे तो बुद्ध, अश्व घोष, नागार्जुन, गोरख और कबीर द्वतीय वर्ग के। कबीर प्रचीनतावादी अथवा रूढ़िवादी नहीं थे। वह प्रगतिशील थे। वह समाज तथा धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर ही चोट करना चाहते थे। विजेता और विजित, हिन्दू और मुसलमान, शिया और सुन्नी, कट्टर एकश्वरवादी और सूफी मतवादी, योगी और भक्त, वैष्णव और शैव, बौद्ध और जैन, ऊँच और नीच, धनी और निर्धन, छूत और अछूत, ब्रह्म और ईश्वर—तात्पर्य यह कि इस प्रकार के जितने भी भेद-विभेद थे वह उन सबका अन्तकर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सब भाई-भाई की तरह रहें और धर्म के क्षेत्र में अपनी व्यक्तिगत साधना में विश्वास करें। कबीर का यही दृष्टि कोण उनके महत्त्व का सूचक है।

कबीर अपने समय का उपज थे। उन्होंने स्वयं अपना नेतृत्व और निर्माण किया था। वह द्रष्टा और युगप्रवर्तक थे। उन्होंने व्यक्ति की धार्मिक प्रवृत्तियों का अपनी दृष्टि से संस्कार किया और अपनी पाखण्डरहित वाणी से तत्कालीन जनता के जीवन को अनुप्राणित किया। उनके पहले कई धार्मिक नेता हो चुके थे, परन्तु उनमें अप्रिय सत्य कहने का साहस नहीं था। कबीर ने इस अभाव की पूर्ति की। भक्त-कवियों की विनयशीलता और आत्म-भर्त्सना के बीच उन्होंने स्पष्ट रूप से धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की पक्षपात रहित

आलोचना की। उन्होंने जहाँ परम्परागत हिन्दू-धर्म के कर्म-काण्ड से निर्भीक स्वर में लोहा लिया, वहाँ भारत में जड़ पकड़नेवाली इस्लाम की नवीन सांप्रदायिक भावना की भी कटु शब्दों में भर्त्सना की। इस प्रकार उन्होंने दोनों धर्मों की अधार्मिकता पर समान रूप से प्रहार किया। उपासना क्षेत्र में वह व्यक्तिगत साधना के पक्षपाती थे। वह चाहते थे साधक को स्वावलम्बी एवं आत्मविश्वासी बनाना। इसलिए समाज के संगठन में वह विशेष सफल नहीं हो सके। फिर भी उनके इस विचार ने शास्त्रीय जटिलताओं को सुलझा कर धर्म को इतना सरल और जीवन-परक बना दिया कि साधारण जनता भी उससे अन्तःप्रेरणाएँ लेने में सफल हो सकी। इतना ही नहीं, जो लोग धर्म का शास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण भौतिक ऐश्वर्य से आकर्षित होकर धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार हो जाते थे, उन्हें कबीर की पक्षपातरहित वाणी से अपने धर्म पर आरूढ़ रहने का बल मिला। इस प्रकार मुसलमानी कुल में मुसलमानी संस्कृति के बीच पोषित होकर भी उन्होंने ऐसे सार्वजनीन सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनसे हिन्दू-धर्म को भी अपने स्थान पर स्थिर रहने की क्षमता एवं दृढ़ता प्राप्त हुई। उन्होंने दोनों धर्मों के बीच समभाव की प्रतिष्ठा की। उनके विचार सब के लिए समान थे। उनके हृदय में हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए समान रूप से स्थान प्राप्त था। उनका धर्म मानव के लिए था, उस मानव के लिए जिसके हृदय में ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो, धर्म का पाखण्ड न हो। हिन्दू-धर्म के जाति-बंधन के वह कटु आलोचक थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र धनवान और निर्धन—सब समान थे। अपनी इसी सम दृष्टि के कारण वह साधारण हिन्दू-जनता में रामानन्द की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए। उपासना के क्षेत्र में रामानन्द अधिक व्यावहारिक न थे, कबीर व्यावहारिक थे। इसलिए कबीर को रामानन्द की अपेक्षा अपने सिद्धान्तों के प्रचार में अधिक सफलता मिली।

तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र में कबीर का महत्त्व उनके सम-भाव के सिद्धान्त के कारण ही था। उनका यह समभाव उनके मनन और चिन्तन का परिणाम

था। वह स्वतंत्र प्रवृत्ति के साधक थे। वह अपनी आत्मा के सच्चे और निर्भीक अनुचर थे और उसी का चित्र अपनी वाणी-द्वारा उतारा करते थे। उन्हें किसी की चिन्ता नहीं थी। वह अपनी आत्मा की ध्वनि पर मनन करते थे और उसी का प्रचार करते थे। उन्होंने समाज की मनोवृत्तियों के अनुसार अपने धार्मिक सिद्धान्तों का निर्माण न करके अपने स्वनिर्मित-सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति का निर्माण किया। इसीलिए वह अपने समय के सभी सुधारकों, संतों और धर्म-प्रवर्तकों से पृथक थे। वह क्रान्तिकारी और युग-प्रवर्तक थे। उनके सिद्धान्त उनके अपने सिद्धान्त थे, उनकी विचार-धारा उनकी अपनी विचार-धारा थी। उन्होंने जो कुछ कहा, हृदय की प्रेरणा से ही कहा। इसलिए उनका सन्देश सत्पुरुष का सन्देश था। वह संत पहले और कवि बाद को थे। उनमें धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान था, काव्यगत दृष्टिकोण गौण। उन्होंने साहित्य के लिए गीत नहीं गाये, चित्रकारी के उद्देश्य से चित्र नहीं खींचे। उन्होंने जनता के हृदय को परिष्कृत करने, उसे धार्मिक भावना से अनुप्राणित करने और उसे सत्य की ज्योति से जगमगाने के लिए अपनी वाणी को मुखरित किया। वह भाषा के पारखी नहीं थे। छन्दों का उन्हें ज्ञान नहीं था। अलङ्कारों के वह पंडित नहीं थे। वह किसी शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उन्हें जैसी भाषा मिली, जो छन्द मिले उसी में उन्होंने अपने हृदय के सत्य को चित्रित किया। उनकी अनुभूति और ज्ञान का आधार था—जीवन की खुली पुस्तक। इसीलिए उनके तर्कों में उनका अपनापन था, आत्मविश्वास की अद्भुत आभा थी।

भाषा की दृष्टि से भी कबीर का महत्व कम नहीं है। अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता तक उन्हीं की भाषा में पहुँचाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उनके समय में भाषा बन रही थी। उसका रूप निखर रहा था। उसमें साहित्य नहीं के बराबर था। कबीर ने सबसे पहले उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। उन्होंने जीवन की जटिल समस्याओं को तत्कालीन जनता की भाषा में सुलझाकर अप्रत्यक्ष रूप से उसका महत्व बढ़ा दिया। फलतः भविष्य में वही भाषा परिष्कृत होकर साहित्य का माध्यम बन गई।

कबीर विचारक संत थे। 'मसि-कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं

हाथ' से यह भी ध्वनित होता है कि उन्होंने अपने विचारों को लिपि-बद्ध भी नहीं किया, केवल मौखिक रूप से ही लोगों को उपदेश देते रहे। पुस्तक-ज्ञान को भी उन्होंने अपने जीवन में महत्व नहीं दिया। 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई', में जो व्यंग है वह उन्हीं पंडितों के प्रति है जो केवल पुस्तक-ज्ञान के आधार पर अपने पांडित्य का प्रदर्शन करते थे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ग्रन्थ-रचना को भी महत्व नहीं दिया। ऐसा लगता है कि साधु-संतों के सत्संग के अवसरों पर आवश्यकतानुसार वह पद-रचना करते रहे होंगे और उसे उनके श्रद्धालु शिष्य लिपि-बद्ध कर लेते रहे होंगे। आज उनकी जो भी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं वे सब उनके शिष्यों-द्वारा ही लिखी गयी हैं। यही कारण है कि उनमें मनमाने परिवर्तन मिलते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों-द्वारा उनके लिपि-बद्ध होने के कारण उनमें भाषा और भाव की अनेक भूलें तो हैं ही, साथ ही उनमें ऐसे पद भी अधिक हैं जिन पर कबीर के व्यक्तित्व की छाप नहीं है। यही कारण है कि अबतक उनकी रचनाओं का शुद्ध पाठ हमारे सामने नहीं आ पाया है।

कबीर की रचनाएँ

कबीर ने अनेक पदों की रचना की है। कबीर-पंथियों का तो यहाँ तक विश्वास है कि 'सद्‌गुरु की वाणियों का कहीं अन्त नहीं है'। हम ऐसा नहीं समझते। हमारा विश्वास है कि कबीर की रचनाओं की एक सीमा है, उनकी एक वास्तविक संख्या है। इस समय तक उनके नाम से जो ग्रन्थ मिलते हैं और जिनमें उनकी रचनाएँ संगृहीत हैं उनमें 'बीजक', 'आदि ग्रन्थ' तथा 'कबीर ग्रन्थावली' का विशिष्ट स्थान है। 'कबीर-बीजक' कबीर-पंथ के अनुयायियों का धर्म-ग्रन्थ है। इसमें बहुत से ऐसे पद हैं जो न तो 'आदि-ग्रन्थ' में मिलते हैं और न 'कबीर-ग्रन्थावली, में। भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी यह उक्त दोनों ग्रन्थों से मेल नहीं खाता। इसमें तीन प्रकार के छन्दों की प्रधानता है (१) साखी, (२) सबद और (३) रमैनी। 'साखी' का अर्थ है—साक्ष्य, साक्षात्कार, ज्ञान, अनुभव, दोहों में सन्तों की अनुभव-वाणी। कबीर ने अपने दोहों साखियों—में साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया है, पाखण्डपूर्ण धार्मिक कृत्यों

पर तीव्र व्यंग किया है और अपने सिद्धान्तों की विवेचना की है। इस प्रकार उनके अधिकांश दोहे नीति और उपदेश से भरे हुए हैं। 'रमैनी' से तात्पर्य है कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा। कबीर की रमैनी में दोहे के पूर्व चौपाइयों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। कहीं-कहीं चौपाइयों के पश्चात दोहे भी नहीं हैं। 'सबद' में गेय पद हैं। इनमें कबीर की अनुभूतियों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण मिलता है। इन छन्दों के अतिरिक्त इसमें ककहरा, बसन्त, चाँचरी, बेली, बिरहुली, हिंडोला आदि छन्द भी मिलते हैं। 'आदि-ग्रन्थ' पंजाबी में हैं। इसमें 'सबदों' का महत्व है। साथ ही इसमें कबीर की कुछ ऐसी रचनाएँ भी संगृहीत हैं जो उनके व्यक्तिगत जीवन पर बहुत स्पष्ट प्रकाश डालती हैं। 'कबीर-ग्रन्थावली' का संपादन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया है। इसके प्रणयन में 'श्री कबीर जी की वाणी' तथा 'आदि-ग्रन्थ' से विशेष सहायता ली गयी है।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कबीर की रचनाओं के अन्य छोटे-छोटे संग्रह भी मिलते हैं। इन संग्रहों का प्रकाशन एक विशिष्ट दृष्टि कोण से ही किया गया है। कबीर की रचनाओं का जैसा प्रमाणिक संस्करण होना चाहिए, वैसा अभी नहीं हो पाया है। प्रसन्नता की बात है कि इस ओर हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान गया है और निकट भविष्य में हमारी यह कठिनाई हल होने की पूरी संभावना है।

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्त

कबीर को कहाँ से क्या मिला, कितना मिला और उसे उन्होंने किस प्रकार अपनी अनुभूति का विषय बनाकर किस उद्देश्य से और किस रूप में जनता के सामने पुस्तुत किया?—इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। हम केवल यह देखेंगे कि वह अपनी धर्म-साधना में सोलह आना भारतीय धर्म-साधना से प्रभावित थे अथवा नहीं? इस दृष्टि से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि उन्हें शरीर मुसलमान-दम्पतियों से प्राप्त हुआ था, तथापि उनका मन, उनका हृदय तथा उनका मस्तिष्क उन हिन्दू-मनीषियों, ऋषियों और चिन्तकों का था जो संसार के माया-मोह से विरक्त होकर अपनी व्यक्तिगत साधना में पारंगत थे। वह एकान्त साधक थे। उनके उपदेशों

को कौन ग्रहण करता है, कौन नहीं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वह बहुत ऊँचे उठे हुए साधक थे। वह न तो किसी के गुरु थे, न किसी के शिष्य। स्वामी रामानन्द के उपदेशों से उन्हें जो प्रेरणा मिली थी उसे भी उन्होंने तबतक स्वीकार नहीं किया जबतक उन्होंने उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर भलीभांति कस नहीं लिया। वह जागरूक और बुद्धिवादी थे। किसी भी मत में उनका विश्वास नहीं था। वेद, पुराण, शास्त्र, .कुरान आदि धर्म-ग्रंथों और उनके प्रणेताओं के प्रति आदर की दृष्टि से देखते हुए भी उन्होंने उनके विचारों को स्वीकार नहीं किया। वह किसी भी धर्म को असत्य अथवा कपोल-कल्पित नहीं समझते थे। सब धर्म सत्य पर ही आधारित हैं—ऐसा वह मानते थे, पर उस सत्य को उन्होंने यों ही स्वीकार नहीं किया। अंध-विश्वास को वह अपनी साधना के लिए विष समझते थे। उनकी दृष्टि में अज्ञानी और मूर्ख वह था जो बिना सोचे-समझे, बिना विचारे ही दूसरों की अनुभूतियों को सत्य मान लेता था। ऐसे ही व्यक्तियों की उन्होंने आलोचना की। उन्हें किसी से द्वेष नहीं था, पर जो लोग समाज और धर्म की पवित्रता को नष्ट करने में लगे हुए थे उन्हें फटकारने से भी वह नहीं चूके। उन्होंने उनके केवल पाखण्डपूर्ण कार्यों पर गहरी चोट की, उन सिद्धान्तों पर नहीं जिन पर उनका मत आश्रित था। वह अपने लिए जिस विचार स्वातंत्र्य को उपयुक्त और अपेक्षित समझते थे उसके लिए उन्होंने कभी किसी को दोषी नहीं ठहराया। उन्होंने सब को छूट दी, सब को सोचने-समझने का अवसर दिया। इसीलिए किसी मत विशेष का प्रवर्तन भी उन्होंने नहीं किया। उनके सिद्धान्तों को समझने में जो कठिनाई होती है, उसका यह एक प्रमुख कारण है। एक दूसरी कठिनाई भी है और यह कि वह दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं भी दार्शनिक होने का दावा नहीं किया। उनकी विचार-धारा सीधी-सादी थी। अपनी बुद्धिवादिता में वह तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्त्व देते थे। साधना के प्रश्न को तर्क-द्वारा हल करनेवालों को वह मोटी बुद्धिवाला कहते थे। 'कहत कबीर तरक जो साधै ताकी मति है मोटी'—कहकर उन्होंने तार्किकों का उपहास भी किया था। वह धर्म, राजनीति

और समाज के क्षेत्र में समरसता लाने के पक्षपाती थे। इसके लिए अनुभूति ही अपेक्षित है, तर्क नहीं। तर्क-द्वारा हम शीघ्र किसी निश्चय पर नहीं पहुँचते। शास्त्रीय तर्क के अभाव में इसीलिए कबीर को समझना कठिन हो जाता है।

कबीर के सिद्धान्तों को समझने में और भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। उनकी रचनाओं में हमें इतने विभिन्न मतों की चर्चा मिलती है और उनमें से कई की ओर वह इस प्रकार आकृष्ट जान पड़ते हैं कि उनके आधार पर हम उन्हें कभी वेदान्ती, कभी सूफी, कभी सगुणवादी, कभी निर्गुणवादी, कभी ज्ञानी, कभी भक्त और कभी योगी समझने लगते हैं। हमारी इस प्रकार की भ्रान्तपूर्ण धारणा का कारण यह है कि उनकी सिद्धान्त-सम्बन्धी समस्त बातें हमें विशेष स्थलों पर एकत्र नहीं मिलतीं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक पद ऐसे हैं जिनमें अनेक बातों का समावेश पाया जाता है। एक ही विचार-धारा को व्यक्त करनेवाले पदों में सामंजस्य का अभाव है। ऐसा लगता है कि जब जो बात उनकी अनुभूति में आई तब उन्होंने उसे पद्यबद्ध कर दिया। उनकी रचनाओं में काल-क्रम का अभाव भी एक ऐसी बाधा है जिसके कारण उनके आध्यात्मिक विकास की स्पष्ट रेखाएँ सामने नहीं आतीं और हम इधर-उधर टटोलते ही रह जाते हैं। उनकी रचनाओं का कोई प्रमाणित संस्करण भी उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी जो आलोचक उनकी रचनाओं के विचार-सागर में गहराई तक उतरे हैं उन्होंने उनके सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त किया है। सुविधा की दृष्टि से हम उनके सिद्धान्तों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) दार्शनिक सिद्धान्त और (२) सामाजिक सिद्धान्त। निम्न पंक्तियों में हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

(१) दार्शनिक सिद्धान्त—कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत तीन तत्वों की प्रधानता मिलती है—(१) परमतत्व, (२) जीवतत्व और (३) माया-तत्व। उनके **परमतत्व** पर औपनिषदीय ब्रह्मवाद का प्रभाव अवश्य है, पर उसकी व्याख्या उन्होंने अपनी अनुभूति के आधार पर की है। 'करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया' तथा 'चेतत चेतत निकसिओ नीरु।

सो जलु निरमल कथत कबीरु' ।।—में उन्होंने अपनी अनुभूति-द्वारा ही उस परमतत्व को प्राप्त करने की ओर संकेत किया है। दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने अपने परमतत्व को 'अगम', 'अगोचर', 'अलख', 'निरंजन', 'निराकार', 'निर्गुण' ही माना है। वह कहते हैं :—

बिन मुख खाइ, चरन बिन चालै,
बिन जिह्वा गुण गावै ।

× × ×

जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ ।

× × ×

अलख निरंजन लखै न कोई ।
निरभै निराकार है सोई ॥

× × ×

सुनि, असथूल, रूप नहिं रेखा ।
द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहिं पेखा ॥

× × ×

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि ।
है जैसा वैसा रहे, कहे कबीर विचारि ॥

× × ×

पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ ।
एक निराकार हृदय नमस्कारूँ ॥

× × ×

वो है जैसा वो ही जानै ।
ओ ही आहि, आहि नहिं आनै ॥

× × ×

अविगत, अकल अनूप देख्या, कहताँ कह्या न जाई ।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगे जानि मिठाई ॥

× × ×

अवगति की गति क्या कहूँ, जाकर गाँव न नांव ।
गुन बिहून का पेखिये काकर धरिए नांव ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ने अपने परमतत्व के निर्गुण रूप को ही अपना उपास्य माना है। हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, वेदांती और नाथपंथी मतों के अनुरूप हरि, गोविन्द, केशव, माधव, रहीम, करीम, गोरख आदि उसके अनेक नाम भी उन्होंने गिनाए हैं, पर उनमें से उन्हें उसके किसी नाम से संतोष नहीं होता। ऐसी दशा में अपने सन्तोष के लिए उन्होंने उसके साकार एवं सगुण रूप की भी कल्पना की है और फिर उसे सृष्टिकर्ता के रूप में चित्रित किया है। वह कहते हैं :—

आपन करता भये कुलाला। बहुविधि सृष्टि रची दर हाला।
विधना कुंभ किये द्वै थानां। प्रतिबिंब तामाहिं समाना॥

× × ×

जिनि यह चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहे कबीर ते जन भले जो चित्रवत लेहि विचार।

और इसके साथ ही 'भांनड़, घडण संवारण सोई' कहकर उसे नष्ट करने वाला, बनानेवाला और सुधारनेवाला भी बताते हैं। इस सगुण रूप के साथ ही उन्होंने उसके विराट रूप की भी कल्पना की है। इतना ही नहीं, उन्होंने उसे कहीं माता, कहीं पिता, कहीं पति और कहीं स्वामी के रूप में भी स्मरण किया है ;—

कोटि सूर जाके परगास, कोटि महादेव अरु कविलास।
दुर्गा कोटि जाके मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै॥

आदि कह कर उसके व्यापक रूप में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, इन्द्र, दुर्गा, धर्मराज, नदी, पर्वत, कला, विद्या—सब को एक साथ तिरोहित कर दिया है। विष्णु के पौराणिक रूपों की भी उन्होंने कल्पना की है और नरसिंह तथा कृष्णावतार का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने परमतत्व का निरूपण विभिन्न ढंगों से किया है। इनसे हमें उनके सत्य-निरूपण-संबधी प्रारंभिक प्रयोगों का ही आभास मिलता है। ऐसा

लगता है कि आरंभ में परमतत्व संबंधी जो विचार उनकी अनुभूति में आये होगें उनको उन्होंने अपने पदों में निःसंकोच व्यक्त कर दिया होगा, परन्तु कालांतर में जब उन्हें उसका रहस्य खुला होगा तब उन्होंने अपने पूर्व विचारों को 'धोखा' कह कर निम्न पदों की रचना की होगी :—

संतौ, धोखा कासूं कहिए।
गुण में निरगुण, निरगुण में गुण है, बाट छांड़ि क्यों बहिये।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई।
नाति स्वरूप, वरण नहिं जाके, घटि-घटि रह्यो समाई।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई।

× × ×

लोगा भरभिन भूलहु भोई।
खालिकु खलक खलक महिं खालिकु पूरि रह्यो सब ठाईं॥
माटी एक अनेक भांति कर साजी साजन हारे।
न कछु पोच माटी के भाण्डे, न कछु पोच कुँभारे॥
सब महि सचा एको सोई, तिसका किया सब कुछ होई।

इन पदों से स्पष्ट है कि कबीर उस परमतत्व का अस्तित्व मात्र स्वीकार करते हैं, उसे किसी नाम से अभिहित करना नहीं चाहते। यही है उनके परमतत्व की व्याख्या जिसके अनुसार वह निर्गुण और सगुण—दोनों से परे है। वह न अजर-अमर है, न अलख-निरंजन है, न ब्रह्मांड और पिंड में है। वह है और घट-घट व्यापी होते हुए भी आदि-अन्त हीन है। वह कर्ता भी है, कृति भी। अपने कृति में वह स्वयं ओतप्रोत है। कबीर कहते हैं :—

बाजीगर डंक इजाई। सब खलक तमासे आई॥
बाजीगर स्वांगु सकेला। अपने रंग रवै अकेला॥

× × ×

जिनि नटवर नटसारी साजी। जो खेलै सो दीसै बाजी॥

ऐसा है कबीर का परमतत्व जो अनिर्वचनीय है। शब्दों द्वारा उसका

वर्णन नहीं हो सकता। वह अगम और अज्ञेय है। अपने को वह स्वयं आप ही जानता है और दूसरा उसे केवल 'है' ही कह सकता है। अपनी-अपनी पहुँच और अनुभूति के अनुसार ही साधक को उसका किंचित परिचय प्राप्त होता है। वह परम सत्य है और उसी का प्रसार सारे विश्व में है।

कबीर के दार्शनिक सिद्धांतों में दूसरा प्रमुख तत्व है जीव-तत्व। उन्होंने परमात्मा और जीवात्मा में कोई भेद नहीं माना है। 'खालिकु खलक खलक महिं खालिकु परि रह्यो सब ठाईं'—कहकर वह हरि में पिंड और पिंड में ही हरि के अस्तित्व का समर्थन करते हैं। वह यह भी कहते हैं कि इस शरीर के भीतर समझी जानेवाली आत्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, न तपस्वी है, और न शेख ही है। 'कहै कबीर इहि राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु'—से यह स्पष्ट है कि उन्होंने उसे राम का, उस परमतत्व का अंश मात्र माना है जिस का नाश उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कागज के ऊपर से स्याही का चिह्न नहीं मिटता। उनका यह अंशांशि-भाव उनकी उन उक्तियों से भी स्पष्ट होता है जिनमें उन्होंने दोनों के संबंध को विन्दु और समुद्र के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में जीव-तत्व मूलतः और तत्वतः वही हैं जो परम तत्व हैं। जीव-तत्व और परम-तत्व में विभिन्नता का अनुभव करनेवालों को उन्होंने फटकारा है और कहा है :—

दोइ कहै तिनही को दोजख, जिन नहिन पहिचाना।

× × ×

कहै कबीर तुरक दुई साधै; तिनकी मति है मोटी।

कबीर ने शरीरस्थ आत्मा के दो रूप माने हैं जिन्हें हम ज्ञाता या ज्ञेय अथवा द्रष्टा या दृश्य के नाम से अभिहित कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा प्राप्ता भी है और प्राप्तव्य भी। 'आप छिपाने आपै आप'—से उनका यही तात्पर्य है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने अपनी रचना 'कबीर की विचार-धारा' में कबीर की 'सुरति' को प्राप्ता आत्मा और निरतिको प्राप्तव्य आत्मा का शुद्ध मुक्त-स्वरूप माना है। जब सुरति अर्थात् प्राप्ता आत्मा का निरति अर्थात् प्राप्तव्य आत्मा

से तादात्म्यत् हो जाता है तब कल्याण और आनन्द की प्राप्ति होती है। कबीर ने कहा भी हैं :—

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भ् दुवार।

यहाँ वह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक अद्वैत तत्व भिन्न रूपों में कैसे और क्यों दिखाई पड़ता है ? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए उन्होंने प्रतिविम्ब-वाद की शरण ली है। 'ज्यों जल में प्रतिबिंब त्यों सकल रामहिं जानी जी,' में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार जल में बिम्ब के विवध प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार इस संसार में जीवात्मा के विविध रूप मिलते हैं। संक्षेप में यही हैं कबीर के जीवात्मा-संबंधी विचार जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह अद्वैतवादी थे।

अब कबीर के माया-तत्व को परखिए। हम अभी बता चुके हैं कि कबीर की दृष्टि में जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु साधारण लोगों की दृष्टि में ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसका मूल कारण है माया। संसार में जन्म लेना माया में फँसना है और माया ही उस परमतत्व से विलगाव का कारण है। वह कहते हैं:—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तथ्य कथ्यो ग्यानी॥

इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर डालनेवाली है केवल माया। इस माया को कबीर ने 'एक परम सुन्दरी' तथा 'विश्व मोहिनी' के रूप में चित्रित किया हैं।' इसका स्वभाव है ठगना और फँसाना। 'माया महा ठगिन हम जानी' साथ ही 'कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खाँड़' आदि से उनकी इसी भावना का आभास मिलता है। माया को उन्होंने नारी के रूप में ही नहीं; बेलि के रूप में भी चित्रित किया है और उसे अनिर्वचनीय माना है। वह कहते हैं :—

जो काँटों तो डह डही, सींची तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय॥

ऐसी माया को कबीर ने त्रिगुणात्मक माना है और कहा है कि उस परमतत्व ने उसे उत्पन्न करके उसमें अपने आप को छिपा लिया है। निम्न पदों से हमें उनकी इसी प्रकार की विचार-धारा का आभास मिलता है :—

रजगुण, तमगुण, सतगुण कहिये यह सब तेरी माया ॥

× × ×

सत, रज, तम, थैं कीन्हीं माया।
आपन माँझ आप छिपाया ॥

कबीर का यह भी विश्वास है कि माया अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण परिवर्तनशील है। इसलिए संसार की सभी वस्तुएँ माया-रूपिणी एवं परिवर्तनशीला हैं। 'कबीर माया डोलनी, पवन बहै हिवधार' में कबीर ने माया की गतिशीलता की पवन के प्रवाह से उपमा दी है। 'उपजै विनसै जेती सर्व माया'—से भी उसकी परिवर्तनशीलता का ही आभास मिलता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका जन्म और नाश दोनों होता है। उसी के कारण जीव आवागमन के इन्द्रजाल में फँसता है और यही दुःख का कारण है। अतः माया स्वभावतः दुःख-रूपिणी है। वह व्यभिचारिणी और बन्धन-रूपा भी है। 'मोर-तोर' की वही जननी है। काम, क्रोध, मोह, मद एवं मत्सर उसके पुत्र हैं जो लोगों को सदा विविध प्रकार का नाच नचाया करते हैं। वह इतनी आकर्षणमयी है कि उसे छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं छूटती। संसार में आदर, मान, जप-तप, व्रत, उपवास, तीर्थ-यात्रा, रोज़ा, नमाज़ जो कुछ है वह सब माया-प्रसूत ही है। वह जल, थल और आकाश सर्वत्र परिव्याप्त है। संसार का कोना-कोना उससे अभिभूत है। उसका निवास-स्थान है मन। 'इक डायन मेरे मन बसै, नित उठ मेरे जिय को डसै' कहकर कबीर ने माया के प्रभाव को स्पष्ट कर दिया है। 'माया मुई, न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर' द्वारा उन्होंने यह भी कह दिया है कि मन की भाँति ही माया भी अविनश्वर है और मन के सारे विकार उसी के संगी-साथी हैं। ऐसी है वह माया और ऐसा है उसका आकर्षक रूप। उसका आकर्षक रूप ही भगवान की भक्ति में बाधक है। वह भक्ति नहीं करने देती। कबीर कहते हैं :—

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण में उनका अपना ही हाथ था। वह कभी झिझके नहीं, कभी झुके नहीं, कभी अटके नहीं, कभी भटके नहीं। वह अपनी साधना, अपने विश्वासों और अपनी अनुभूतियों में बराबर आगे बढ़ते रहे और एक दिन वह आया जब वह अपने मार्ग की अनेक कठिनाइयों को दूर कर बंधन-मुक्त हो गये। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है कि 'हज़ार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नहीं उत्पन्न हुआ।'

कबीर का महत्त्व

कबीर संधि-काल के विचारक और समीक्षक थे। उनका समय दो परस्पर विरोधी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के संघर्ष का युग था। विजेता के रूप में आए हुए मुसलमान विजित हिन्दुओं के साथ जीवन के किसी भी क्षेत्र में समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। हिन्दू अपना सब कुछ देकर भी अपनी सभ्यता और संस्कृत की रक्षा करने पर डटे हुए थे। ऐसी दशा में संघर्ष होना स्वभाविक ही था। इस संघर्ष का प्रभाव तत्कालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक तथा धार्मिक—पर पड़ रहा था और उनके दुखद परिणाम स्पष्ट होते जा रहे थे। साथ ही यह भी स्पष्ट होता जारहा था कि यदि विजेताओं को विजितों के साथ इसी देश में जमकर रहना है तो उन्हें यहाँ के जीवन-सिद्धान्तों के साथ किसी-न-किसी रूप में समझौता करना ही होगा। समझौते की यह भावना उच्च स्तर के लोगों की अपेक्षा निम्न अथवा अशिक्षित स्तर के लोगों में विशेष रूप से पनप रही थी। वे शान्तिपूर्वक रहकर अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहते थे। यह थी उस समय की प्रथम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या!

उपर्युक्त समस्या से ही संबंधित तत्कालीन भारतीय समाज की एक दूसरी समस्या भी थी। इस समस्या का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था से और गौणतः विदेशी जातियों से था। हिन्दू-सामाजिक व्यवस्था के जो दो स्तंभ—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्म—माने जाते हैं उनका आदि रूप निस्सन्देह आकर्षक, गतिशील और कल्याणकारी था, परन्तु समय के प्रभाव से

उनमें भी ऐसे दोष आ गए थे जिनके कारण हिन्दू समाज की एकता ही खतरे में पड़ गयी थी। वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच, छूत-अछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण की अकल्याणकारी भावनाओं से पूरित थी। इसी प्रकार आश्रम-धर्म भी निर्जीव हो रहा था। महात्मा गौतम बुद्ध ने इन दोनों स्तंभों के रूढ़ि-ग्रस्त रूपों को गति देने की चेष्टा की थी, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। क्यों? इसलिए कि वर्ण-व्यवस्था और आश्रम धर्म की जड़ें इतनी दृढ़ और समाज की मानसिक भाव-भूमि में इतनी गहरी धंसी हुई हैं कि उनका उन्मूलन किसी एक के बल-बूते का काम नहीं है। गौतम बुद्ध चले थे वर्ण-व्यवस्था का अन्त करने, परन्तु वह उसका अन्त करने के स्थान पर एक नई जाति को ही जन्म दे गये। यह उनके धर्म के स्वरूप का ही दोष था। बुद्ध धर्म एक प्रकार से भिक्षुओं का धर्म था। भिक्षुओं ने लोक-जीवन में रहकर जाति-भेद की व्यर्थता का लौकिक उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया। बौद्ध-श्रमण भी जाति-बन्धन से मुक्त होकर उसकी व्यर्थता पर आघात न कर सके। इस प्रकार के जाति-बन्धन-विरोधी आन्दोलन आगे भी हुए, परन्तु उनके सबके साथ भी यही विडम्बना थी। ऐसी विडम्बना के फलस्वरूप जाति-बन्धन शिथिल होने के स्थान पर और भी रूढ़ि-ग्रस्त होते जा रहे थे। कबीर के समय में तो उनके रूढ़ि-ग्रस्त होने के और भी कारण प्रस्तुत हो गए थे। शक, हूण, ग्रीक, कुशन, सिथियन आदि जो भी विदेशी बर्बर जातियाँ भारत में आयी थीं, उनकी सांस्कृतिक स्थिति नगण्य थी। इसलिए कालान्तर में वे भारतीय जन-समूह का अंग बन गयीं। इस्लामी सभ्यता उच्च कोटि की सभ्यता थी। आर्य-संस्कृति के लिए उसको पचाना सरल काम नहीं था। उसमें दो विशेषताएँ थीं—एक तो जातीय भ्रातृ-भाव और दूसरी सामूहिक साधना। उसकी इन्हीं दोनों विशेषताओं की ओर वर्ण-व्यवस्था से पीड़ित और आश्रम-धर्म से ऊबे हुए लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसी दशा में वर्णाश्रम-धर्म के बंधन शिथिल न होकर और भी जकड़ गए। इस्लाम की भी कुछ ऐसी ही दशा हुई। उसने जिस बर्बता से संसार के अन्य देशों में सफलता प्राप्त की थी वह भारतीय अहिंसात्मक प्रवृत्ति के सामने कुंठित हो गयी। अपने धार्मिक सिद्धान्तों के

प्रचार में उसे अपनी बर्बरता पर ही विश्वास था। भारतीय वातावरण में उसका वह विश्वास जाता रहा और वह भी धीरे-धीरे रूढ़ि-ग्रस्त हो गया—इतना रूढ़िग्रस्त हो गया कि उसमें भी दो दल हो गए। इनमें से एक दल था उन मुसलमानों का जिनमें विशुद्ध तुर्की अथवा अरबी रक्त था और दूसरा दल था उन नए मुसलमानों का जिन्होंने वर्णाश्रम-धर्म की जटिलता से ऊबकर इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। भारत की तत्कालीन इस्लामी राजनीति में इन दोनों दलों ने पूरा भाग लिया था और सच पूछिए तो यही भारत की इस्लामी सल्तन्तों के विनाश का कारण हुआ। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं से त्रस्त एवं पीड़ित थे। अतएव आवश्यकता थी ऐसी सामाजिक व्यवस्था की जो एक ओर तो दोनों को रूढ़ियों से मुक्त कर दे और दूसरी ओर उनमें भ्रातृ-भाव का संचार करे।

एक तीसरी समस्या भी थी और वह थी तत्कालीन भारतीय साधना-पद्धतियों को रूढ़ि-मुक्त करना। हम बता चुके हैं कि कबीर के समय में (१) सगुण भक्ति के अन्तर्गत वैष्णव, शैव तथा शाक्त सम्प्रदाय, (२) निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत हिन्दू-संत, एकेश्वरवादी मुसलमान तथा प्रेम-मार्गी सूफ़ी (३) बौद्धों का सहजयानी सम्प्रदाय तथा (४) नाथ-पंथी सम्प्रदाय की धूम थी। इस्लाम-धर्म में दो दल थे—एक तो था कट्टर एकेश्वरवादी मुसलमानों का दूसरा था सूफ़ी-मतवालों का। कट्टर एकेश्वरवादी शिया और सुन्नी में विभाजित थे। सूफ़ी-सम्प्रदाय के लोग कट्टर एकेश्वरवादी मुल्लाओं के साथ नहीं थे। उन्हें बल था सात्विक वृत्ति के मुसलमानों का, परन्तु यह लोग भी कई सम्प्रदायों में विभक्त थे। कबीर के समय में इन सम्प्रदायों की संख्या लगभग १४ तक पहुँच चुकी थी जिनमें चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, क़ादरी सम्प्रदाय और नक्शबन्दी सम्प्रदाय प्रमुख थे। साधना के क्षेत्र में इन सभी सम्प्रदायों तथा मतों का अपना-अपना महत्व था, परन्तु उनके रूढ़ि-ग्रस्त हो जाने से उनका प्रवाह रुक-सा गया था और उनमें संकीर्णता आ गयी थी। इसलिए एक मत अथवा सम्प्रदाय के लोग दूसरे मतवालों को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

मानव-कल्याण के लिए यह स्थिति अत्यन्त भयावह थी। इसलिए अन्य समस्याओं की भाँति इन समस्या पर भी विचार करना परम आवश्यक था।

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर के समय की जिन आवश्यकताओं एवं समस्याओं की ओर संकेत किया गया है उन पर विचार और विचार के अनुसार सुधार करनेवालों के उस समय दो दल थे—एक दल तो था उन विचारकों का जो समस्त साधना-पद्धतियों की रूढ़ि-ग्रस्त परंपराओं को स्वीकार करते हुए युग के अनुकूल उनकी नवीन व्याख्या करना चाहते थे। वे प्राचीनता के पक्षपाती तो थे, पर नवीनता के विरोधी नहीं थे। दूसरे प्रकार के विचारक क्रान्तिकारी थे। वे समस्त रूढ़ियों को अस्वीकार करके भारतीय समाज की नये दृष्टि-कोण से व्यवस्था करना चाहते थे। यदि व्यास, शंकराचार्य, रामानुज, तुलसीदास प्रथम वर्ग के सुधारक थे तो बुद्ध, अश्व घोष, नागार्जुन, गोरख और कबीर द्वितीय वर्ग के। कबीर प्रचीनतावादी अथवा रूढ़िवादी नहीं थे। वह प्रगतिशील थे। वह समाज तथा धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर ही चोट करना चाहते थे। विजेता और विजित, हिन्दू और मुसलमान, शिया और सुन्नी, कट्टर एकश्वरवादी और सूफी मतवादी, योगी और भक्त, वैष्णव और शैव, बौद्ध और जैन, ऊँच और नीच, धनी और निर्धन, छूत और अछूत, ब्रह्म और ईश्वर—तात्पर्य यह कि इस प्रकार के जितने भी भेद-विभेद थे वह उन सबका अन्तकर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सब भाई-भाई की तरह रहें और धर्म के क्षेत्र में अपनी व्यक्तिगत साधना में विश्वास करें। कबीर का यही दृष्टि कोण उनके महत्व का सूचक है।

कबीर अपने समय को उपज थे। उन्होंने स्वयं अपना नेतृत्व और निर्माण किया था। वह द्रष्टा और युगप्रवर्तक थे। उन्होंने व्यक्ति की धार्मिक प्रवृत्तियों का अपनी दृष्टि से संस्कार किया और अपनी पाखण्डरहित वाणी से तत्कालीन जनता के जीवन को अनुप्राणित किया। उनके पहले कई धार्मिक नेता हो चुके थे, परन्तु उनमें अप्रिय सत्य कहने का साहस नहीं था। कबीर ने इस अभाव की पूर्ति की। भक्त-कवियों की विनयशीलता और आत्म-भर्त्सना के बीच उन्होंने स्पष्ट रूप से धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की पक्षपात रहित

आलोचना की। उन्होंने जहाँ परम्परागत हिन्दू-धर्म के कर्म-काण्ड से निर्भीक स्वर में लोहा लिया, वहाँ भारत में जड़ पकड़नेवाली इस्लाम की नवीन सांप्रदायिक भावना की भी कटु शब्दों में भर्त्सना की। इस प्रकार उन्होंने दोनों धर्मों की अधार्मिकता पर समान रूप से प्रहार किया। उपासना क्षेत्र में वह व्यक्तिगत साधना के पक्षपाती थे। वह चाहते थे साधक को स्वावलम्बी एवं आत्मविश्वासी बनाना। इसलिए समाज के संगठन में वह विशेष सफल नहीं हो सके। फिर भी उनके इस विचार ने शास्त्रीय जटिलताओं को सुलझा कर धर्म को इतना सरल और जीवन-परक बना दिया कि साधारण जनता भी उससे अन्तःप्रेरणाएँ लेने में सफल हो सकी। इतना ही नहीं, जो लोग धर्म का शास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण भौतिक ऐश्वर्य से आकर्षित होकर धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार हो जाते थे, उन्हें कबीर की पक्षपातरहित वाणी से अपने धर्म पर आरूढ़ रहने का बल मिला। इस प्रकार मुसलमानी कुल में मुसलमानी संस्कृति के बीच पोषित होकर भी उन्होंने ऐसे सार्वजनीन सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनसे हिन्दू-धर्म को भी अपने स्थान पर स्थिर रहने की क्षमता एवं दृढ़ता प्राप्त हुई। उन्होंने दोनों धर्मों के बीच समभाव की प्रतिष्ठा की। उनके विचार सब के लिए समान थे। उनके हृदय में हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए समान रूप से स्थान प्राप्त था। उनका धर्म मानव के लिए था, उस मानव के लिए जिसके हृदय में ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो, धर्म का पाखण्ड न हो। हिन्दू-धर्म के जाति-बंधन के वह कटु आलोचक थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र धनवान और निर्धन—सब समान थे। अपनी इसी सम दृष्टि के कारण वह साधारण हिन्दू-जनता में रामानन्द की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए। उपासना के क्षेत्र में रामानन्द अधिक व्यावहारिक न थे, कबीर व्यावहारिक थे। इसलिए कबीर को रामानन्द की अपेक्षा अपने सिद्धान्तों के प्रचार में अधिक सफलता मिली।

तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र में कबीर का महत्त्व उनके सम-भाव के सिद्धान्त के कारण ही था। उनका यह समभाव उनके मनन और चिन्तन का परिणाम

था। वह स्वतंत्र प्रवृत्ति के साधक थे। वह अपनी आत्मा के सच्चे और निर्भीक अनुचर थे और उसी का चित्र अपनी वाणी-द्वारा उतारा करते थे। उन्हें किसी की चिन्ता नहीं थी। वह अपनी आत्मा की ध्वनि पर मनन करते थे और उसी का प्रचार करते थे। उन्होंने समाज की मनोवृत्तियों के अनुसार अपने धार्मिक सिद्धान्तों का निर्माण न करके अपने स्वनिर्मित-सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति का निर्माण किया। इसीलिए वह अपने समय के सभी सुधारकों, संतों और धर्म-प्रवर्तकों से पृथक थे। वह क्रान्तिकारी और युग-प्रवर्तक थे। उनके सिद्धान्त उनके अपने सिद्धान्त थे, उनकी विचार-धारा उनकी अपनी विचार-धारा थी। उन्होंने जो कुछ कहा, हृदय की प्रेरणा से ही कहा। इसलिए उनका सन्देश सत्पुरुष का सन्देश था। वह संत पहले और कवि बाद को थे। उनमें धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान था, काव्यगत दृष्टिकोण गौण। उन्होंने साहित्य के लिए गीत नहीं गाये, चित्रकारी के उद्देश्य से चित्र नहीं खींचे। उन्होंने जनता के हृदय को परिष्कृत करने, उसे धार्मिक भावना से अनुप्राणित करने और उसे सत्य की ज्योति से जगमगाने के लिए अपनी वाणी को मुखरित किया। वह भाषा के पारखी नहीं थे। छन्दों का उन्हें ज्ञान नहीं था। अलङ्कारों के वह पंडित नहीं थे। वह किसी शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उन्हें जैसी भाषा मिली, जो छन्द मिले उसी में उन्होंने अपने हृदय के सत्य को चित्रित किया। उनकी अनुभूति और ज्ञान का आधार था—जीवन की खुली पुस्तक। इसीलिए उनके तर्कों में उनका अपनापन था, आत्मविश्वास की अद्भुत आभा थी।

भाषा की दृष्टि से भी कबीर का महत्व कम नहीं है। अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता तक उन्हीं की भाषा में पहुँचाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उनके समय में भाषा बन रही थी। उसका रूप निखर रहा था। उसमें साहित्य नहीं के बराबर था। कबीर ने सबसे पहले उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। उन्होंने जीवन की जटिल समस्याओं को तत्कालीन जनता की भाषा में सुलझाकर अप्रत्यक्ष रूप से उसका महत्व बढ़ा दिया। फलतः भविष्य में वही भाषा परिष्कृत होकर साहित्य का माध्यम बन गई।

कबीर विचारक संत थे। 'मसि-कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं

हाथ' से यह भी ध्वनित होता है कि उन्होंने अपने विचारों को लिपि-बद्ध भी नहीं किया, केवल मौखिक रूप से ही लोगों को उपदेश देते रहे। पुस्तक-ज्ञान को भी उन्होंने अपने जीवन में महत्व नहीं दिया। 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई', में जो व्यंग है वह उन्हीं पंडितों के प्रति है जो केवल पुस्तक-ज्ञान के आधार पर अपने पांडित्य का प्रदर्शन करते थे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ग्रन्थ-रचना को भी महत्व नहीं दिया। ऐसा लगता है कि साधु-संतों के सत्संग के अवसरों पर आवश्यकतानुसार वह पद-रचना करते रहे होंगे और उसे उनके श्रद्धालु शिष्य लिपि-बद्ध कर लेते रहे होंगे। आज उनकी जो भी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं वे सब उनके शिष्यों-द्वारा ही लिखी गयी हैं। यही कारण है कि उनमें मनमाने परिवर्तन मिलते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों-द्वारा उनके लिपि-बद्ध होने के कारण उनमें भाषा और भाव की अनेक भूलें तो हैं ही, साथ ही उनमें ऐसे पद भी अधिक हैं जिन पर कबीर के व्यक्तित्व की छाप नहीं है। यही कारण है कि अबतक उनकी रचनाओं का शुद्ध पाठ हमारे सामने नहीं आ पाया है।

कबीर की रचनाएँ

कबीर ने अनेक पदों की रचना की है। कबीर-पंथियों का तो यहाँ तक विश्वास है कि 'सद्गुरु की वाणियों का कहीं अन्त नहीं है'। हम ऐसा नहीं समझते। हमारा विश्वास है कि कबीर की रचनाओं की एक सीमा है, उनकी एक वास्तविक संख्या है। इस समय तक उनके नाम से जो ग्रन्थ मिलते हैं और जिनमें उनकी रचनाएँ संग्रहीत हैं उनमें 'बीजक', 'आदि ग्रन्थ' तथा 'कबीर ग्रन्थावली' का विशिष्ट स्थान है। 'कबीर-बीजक' कबीर-पंथ के अनुयायियों का धर्म-ग्रन्थ है। इसमें बहुत से ऐसे पद हैं जो न तो 'आदि-ग्रन्थ' में मिलते हैं और न 'कबीर-ग्रन्थावली, में। भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी यह उक्त दोनों ग्रन्थों से मेल नहीं खाता। इसमें तीन प्रकार के छन्दों की प्रधानना है (१) साखी, (२) सबद और (३) रमैनी। 'साखी' का अर्थ है—साक्ष्य, साक्षात्यकार, ज्ञान, अनुभव, दोहों में सन्तों की अनुभव-वाणी। कबीर ने अपने दोहों साखियों—में साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया है, पाखण्डपूर्ण धार्मिक कृत्यों

पर तीव्र व्यंग किया है और अपने सिद्धान्तों की विवेचना की है। इस प्रकार उनके अधिकांश दोहे नीति और उपदेश से भरे हुए हैं। 'रमैनी' से तात्पर्य है कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा। कबीर की रमैनी में दोहे के पूर्व चौपाइयों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। कहीं-कहीं चौपाइयों के पश्चात दोहे भी नहीं हैं। 'सबद' में गेय पद हैं। इनमें कबीर की अनुभूतियों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण मिलता है। इन छन्दों के अतिरिक्त इसमें ककहरा, वसन्त, चाँचरी, बेली, बिरहूली, हिंडोला आदि छन्द भी मिलते हैं। 'आदि-ग्रन्थ' पंजाबी में हैं। इसमें 'सबदों' का महत्व है। साथ ही इसमें कबीर की कुछ ऐसी रचनाएँ भी संगृहीत हैं जो उनके व्यक्तिगत जीवन पर बहुत स्पष्ट प्रकाश डालती हैं। 'कबीर-ग्रन्थावली' का संपादन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया है। इसके प्रणयन में 'श्री कबीर जी की वाणी' तथा 'आदि-ग्रन्थ' से विशेष सहायता ली गयी है।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कबीर की रचनाओं के अन्य छोटे-छोटे संग्रह भी मिलते हैं। इन संग्रहों का प्रकाशन एक विशिष्ट दृष्टि कोण से ही किया गया है। कबीर की रचनाओं का जैसा प्रमाणिक संस्करण होना चाहिए, वैसा अभी नहीं हो पाया है। प्रसन्नता की बात है कि इस ओर हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान गया है और निकट भविष्य में हमारी यह कठिनाई हल होने की पूरी संभावना है।

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्त

कबीर को कहाँ से क्या मिला, कितना मिला और उसे उन्होंने किस प्रकार अपनी अनुभूति का विषय बनाकर किस उद्देश्य से और किस रूप में जनता के सामने प्रस्तुत किया ?—इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। हम केवल यह देखेंगे कि वह अपनी धर्म-साधना में सोलह आना भारतीय धर्म-साधना से प्रभावित थे अथवा नहीं ? इस दृष्टि से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि उन्हें शरीर मुसलमान-दम्पतियों से प्राप्त हुआ था, तथापि उनका मन, उनका हृदय तथा उनका मस्तिष्क उन हिन्दू-मनीषियों, ऋषियों और चिन्तकों का था जो संसार के माया-मोह से विरक्त होकर अपनी व्यक्तिगत साधना में पारंगत थे। वह एकान्त साधक थे। उनके उपदेशों

को कौन ग्रहण करता है, कौन नहीं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वह बहुत ऊँचे उठे हुए साधक थे। वह न तो किसी के गुरु थे, न किसी के शिष्य। स्वामी रामानन्द के उपदेशों से उन्हें जो प्रेरणा मिली थी उसे भी उन्होंने तबतक स्वीकार नहीं किया जबतक उन्होंने उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर भलीभांति कस नहीं लिया। वह जागरूक और बुद्धिवादी थे। किसी भी मत में उनका विश्वास नहीं था। वेद, पुराण, शास्त्र, क़ुरान आदि धर्म-ग्रंथों और उनके प्रणेताओं के प्रति आदर की दृष्टि से देखते हुए भी उन्होंने उनके विचारों को स्वीकार नहीं किया। वह किसी भी धर्म को असत्य अथवा कपोल-कल्पित नहीं समझते थे। सब धर्म सत्य पर ही आधारित हैं—ऐसा वह मानते थे, पर उस सत्य को उन्होंने यों ही स्वीकार नहीं किया। अंध-विश्वास को वह अपनी साधना के लिए विष समझते थे। उनकी दृष्टि में अज्ञानी और मूर्ख वह था जो बिना सोचे-समझे, बिना विचारे ही दूसरों की अनुभूतियों को सत्य मान लेता था। ऐसे ही व्यक्तियों की उन्होंने आलोचना की। उन्हें किसी से द्वेष नहीं था, पर जो लोग समाज और धर्म की पवित्रता को नष्ट करने में लगे हुए थे उन्हें फटकारने से भी वह नहीं चूके। उन्होंने उनके केवल पाखण्डपूर्ण कार्यों पर गहरी चोट की, उन सिद्धान्तों पर नहीं जिन पर उनका मत आश्रित था। वह अपने लिए जिस विचार स्वातंत्र्य को उपयुक्त और अपेक्षित समझते थे उसके लिए उन्होंने कभी किसी को दोषी नहीं ठहराया। उन्होंने सब को छूट दी, सब को सोचने-समझने का अवसर दिया। इसीलिए किसी मत विशेष का प्रवर्तन भी उन्होंने नहीं किया। उनके सिद्धान्तों को समझने में जो कठिनाई होती है, उसका यह एक प्रमुख कारण है। एक दूसरी कठिनाई भी है और यह कि वह दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं भी दार्शनिक होने का दावा नहीं किया। उनकी विचार-धारा सीधी-सादी थी। अपनी बुद्धिवादिता में वह तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्त्व देते थे। साधना के प्रश्न को तर्क-द्वारा हल करनेवालों को वह मोटी बुद्धिवाला कहते थे। 'कहत कबीर तरक जो साधै ताकी मति है मोटी'—कहकर उन्होंने तार्किकों का उपहास भी किया था। वह धर्म, राजनीति

और समाज के क्षेत्र में समरसता लाने के पक्षपाती थे। इसके लिए अनुभूति ही अपेक्षित है, तर्क नहीं। तर्क-द्वारा हम शीघ्र किसी निश्चय पर नहीं पहुँचते। शास्त्रीय तर्क के अभाव में इसीलिए कबीर को समझना कठिन हो जाता है।

कबीर के सिद्धान्तों को समझने में और भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। उनकी रचनाओं में हमें इतने विभिन्न मतों की चर्चा मिलती है और उनमें से कई की ओर वह इस प्रकार आकृष्ट जान पड़ते हैं कि उनके आधार पर हम उन्हें कभी वेदान्ती, कभी सूफी, कभी सगुणवादी, कभी निर्गुणवादी, कभी ज्ञानी, कभी भक्त और कभी योगी समझने लगते हैं। हमारी इस प्रकार की भ्रान्तपूर्ण धारणा का कारण यह है कि उनकी सिद्धान्त-सम्बन्धी समस्त बातें हमें विशेष स्थलों पर एकत्र नहीं मिलतीं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक पद ऐसे हैं जिनमें अनेक बातों का समावेश पाया जाता है। एक ही विचार-धारा को व्यक्त करनेवाले पदों में सामंजस्य का अभाव है। ऐसा लगता है कि जब जो बात उनकी अनुभूति में आई तब उन्होंने उसे पद्यवद्ध कर दिया। उनकी रचनाओं में काल-क्रम का अभाव भी एक ऐसी बाधा है जिसके कारण उनके आध्यात्मिक विकास की स्पष्ट रेखाएँ सामने नहीं आतीं और हम इधर-उधर टटोलते ही रह जाते हैं। उनकी रचनाओं का कोई प्रमाणित संस्करण भी उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी जो आलोचक उनकी रचनाओं के विचार-सागर में गहराई तक उतरे हैं उन्होंने उनके सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त किया है। सुविधा की दृष्टि से हम उनके सिद्धान्तों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) दार्शनिक सिद्धान्त और (२) सामाजिक सिद्धान्त। निम्न पंक्तियों में हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

(१) दार्शनिक सिद्धान्त—कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत तीन तत्वों की प्रधानता मिलती है—(१) परमतत्व, (२) जीवतत्व और (३) माया-तत्व। उनके परमतत्व पर औपनिषदीय ब्रह्मवाद का प्रभाव अवश्य है, पर उसकी व्याख्या उन्होंने अपनी अनुभूति के आधार पर की है। 'करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया' तथा 'चेतत चेतत निकसिओ नीरु।

सो जलु निरमल कथत कबीरु' ॥—में उन्होंने अपनी अनुभूति-द्वारा ही उस परमतत्व को प्राप्त करने की ओर संकेत किया है। दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने अपने परमतत्व को 'अगम', 'अगोचर', 'अलख', 'निरंजन', 'निराकार', 'निर्गुण' ही माना है। वह कहते हैं :—

बिन मुख खाइ, चरन बिन चालै,
बिन जिह्वा गुण गावै।

× × ×

जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ।

× × ×

अलख निरंजन लखै न कोई।
निरभै निराकार है सोई॥

× × ×

सुनि, असथूल, रूप नहिं रेखा।
द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहिं पेखा॥

× × ×

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा वैसा रहे, कहे कबीर विचारि॥

× × ×

पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ।
एक निराकार हृदय नमस्कारूँ॥

× × ×

वो है जैसा वो ही जानै।
ओ ही आहि, आहि नहिं आनै॥

× × ×

अविगत, अकल अनूप देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई॥

× × ×

अवगति की गति क्या कहूँ, जाकर गाँव न नांव ।

गुन बिहून का पेखिये काकर धरिए नांव ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ने अपने परमतत्व के निगुण रूप को ही अपना उपास्य माना है। हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, वेदांती और नाथपंथी मतों के अनुरूप हरि, गोविन्द, केशव, माधव, रहीम, करीम, गोरख आदि उसके अनेक नाम भी उन्होंने गिनाए हैं, पर उनमें से उन्हें उसके किसी नाम से संतोष नहीं होता। ऐसी दशा में अपने सन्तोष के लिए उन्होंने उसके साकार एवं सगुण रूप की भी कल्पना की है और फिर उसे सृष्टिकर्ता के रूप में चित्रित किया है। वह कहते हैं :—

आपन करता भये कुलाला। बहुविधि सृष्टि रची दर हाला।

विधना कुंभ किये द्वै भानां। प्रतिबिंब तामाहिं समाना ॥

× × ×

जिनि यह चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार ।

कहे कबीर ते जन भले जो चित्रवत लेहि विचार ।

और इसके साथ ही 'भांनड़, घडण संवारण सोई' कहकर उसे नष्ट करने वाला, बनानेवाला और सुधारनेवाला भी बताते हैं। इस सगुण रूप के साथ ही उन्होंने उसके विराट रूप की भी कल्पना की है। इतना ही नहीं, उन्होंने उसे कहीं माता, कहीं पिता, कहीं पति और कहीं स्वामी के रूप में भी स्मरण किया है ;—

कोटि सूर जाके परगास, कोटि महादेव अरु कविलास ।

दुर्गा कोटि जाके मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै ॥

आदि कह कर उसके व्यापक रूप में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, इन्द्र, दुर्गा, धर्मराज, नदी, पर्वत, कला, विद्या—सब को एक साथ तिरोहित कर दिया है। विष्णु के पौराणिक रूपों की भी उन्होंने कल्पना की है और नरसिंह तथा कृष्णावतार का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने परमतत्व का निरूपण विभिन्न ढंगों से किया है। इनसे हमें उनके सत्य-निरूपण-संबंधी प्रारंभिक प्रयोगों का ही आभास मिलता है। ऐसा

लगता है कि आरंभ में परमतत्व संबंधी जो बिचार उनकी अनुभूति में आये होगें उनको उन्होंने अपने पदों में निःसंकोच व्यक्त कर दिया होगा, परन्तु कालांतर में जब उन्हें उसका रहस्य खुला होगा तब उन्होंने अपने पूर्व विचारों को 'धोखा' कह कर निम्न पदों की रचना की होगी :—

संतौ, धोखा कासूं कहिए।
गुण में निरगुण, निरगुण में गुण है, बाट छाड़ि क्यों बहिये॥
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई।
नाति स्वरूप, वरण नहिं जाके, घटि-घटि रह्य समाई।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई।

× × ×

लोगा भरभिन भूलहु भोई।
खालिकु खलक खलक महिं खालिकु पूरि रह्यो सब ठाईं॥
माटी एक अनेक भांति कर साजी साजन हारे।
न कछु पोच माटी के भाण्डे, न कछु पोच कुँभारै॥
सब महि सचा एको सोई, तिसका किया सब कुछ होई।

इन पदों से स्पष्ट है कि कबीर उस परमतत्व का अस्तित्व मात्र स्वीकार करते हैं, उसे किसी नाम से अभिहित करना नहीं चाहते। यही है उनके परमतत्व की व्याख्या जिसके अनुसार वह निर्गुण और सगुण—दोनों से परे है। वह न अजर-अमर है, न अलख-निरंजन है, न ब्रह्मांड और पिंड में है। वह है और घट-घट व्यापी होते हुए भी आदि-अन्त हीन है। वह कर्ता भी है, कृति भी। अपने कृति में वह स्वयं ओतप्रोत है। कबीर कहते हैं :—

बाजीगर डंक इजाई। सब खलक तमासे आई॥
बाजीगर स्वांगु सकेला। अपने रंग रवै अकेला॥

× × ×

जिनि नटवर नटसारी साजी। जो खेलै सो दीसे बाजी॥

ऐसा है कबीर का परमतत्व जो अनिर्वचनीय है। शब्दों द्वारा उसका

वर्णन नहीं हो सकता। वह अगम और अज्ञेय है। अपने को वह स्वयं आप ही जानता है और दूसरा उसे केवल 'है' ही कह सकता है। अपनी-अपनी पहुँच और अनुभूति के अनुसार ही साधक को उसका किंचित परिचय प्राप्त होता है। वह परम सत्य है और उसी का प्रसार सारे विश्व में है।

कबीर के दार्शनिक सिद्धातों में दूसरा प्रमुख तत्व है जीव-तत्व। उन्होंने परमात्मा और जीवात्मा में कोई भेद नहीं माना है। 'खालिकु खलक खलक महिं खालिकु परि रह्यो सब ठाई'—कहकर वह हरि में पिंड और पिंड में ही हरि के अस्तित्व का समर्थन करते हैं। वह यह भी कहते हैं कि इस शरीर के भीतर समझी जानेवाली आत्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, न तपस्वी है, और न शेख ही है। 'कहै कबीर इहि राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु'—से यह स्पष्ट है कि उन्होंने उसे राम का, उस परमतत्व का अंश मात्र माना है जिस का नाश उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कागज के ऊपर से स्याही का चिह्न नहीं मिटता। उनका यह अंशांशि-भाव उनकी उन उक्तियों से भी स्पष्ट होता है जिनमें उन्होंने दोनों के संबंध को विन्दु और समुद्र के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में जीव-तत्व मूलतः और तत्वतः वही है जो परम तत्व है। जीव-तत्व और परम-तत्व में विभिन्नता का अनुभव करनेवालों को उन्होंने फटकारा है और कहा है:—

दोइ कहै तिनही को दोजख, जिन नहिन पहिचाना।

× × ×

कहै कबीर तुरक दुई साधै; तिनकी मति है मोटी।

कबीर ने शरीरस्थ आत्मा के दो रूप माने हैं जिन्हें हम ज्ञाता या ज्ञेय अथवा द्रष्टा या दृष्य के नाम से अभिहित कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा प्राप्ता भी है और प्राप्तव्य भी। 'आप छिपाने आपै आप'—से उनका यही तात्पर्य है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने अपनी रचना 'कबीर की विचार-धारा' में कबीर की 'सुरति' को प्राप्ता आत्मा और निरतिको प्रातव्य आत्मा का शुद्ध मुक्त-स्वरूप माना है। जब सुरति अर्थात् प्राप्ता आत्मा का निरति अर्थात् प्राप्तव्य आत्मा

से तादात्म्यत् हो जाता है तब कल्याण और आनन्द की प्राप्ति होती है। कबीर ने कहा भी हैं :—

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भू दुवार।

यहाँ वह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक अद्वैत तत्व भिन्न रूपों में कैसे और क्यों दिखाई पड़ता है ? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए उन्होंने प्रतिबिम्ब-वाद की शरण ली है। 'ज्यों जल में प्रतिबिंब त्यों सकल रामहिं जानी जी,' में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार जल में बिम्ब के विवध प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार इस संसार में जीवात्मा के विविध रूप मिलते हैं। संक्षेप में यही हैं कबीर के जीवात्मा-संबंधी विचार जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह अद्वैतवादी थे।

अब कबीर के माया-तत्व को परखिए। हम अभी बता चुके हैं कि कबीर की दृष्टि में जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु साधारण लोगों की दृष्टि में ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसका मूल कारण है माया। संसार में जन्म लेना माया में फँसना है और माया ही उस परमतत्व से विलगाव का कारण है। वह कहते हैं:—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहिं समाना, यह तथ्य कथ्यो ग्यानी॥

इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर डालनेवाली है केवल माया। इस माया को कबीर ने 'एक परम सुन्दरी' तथा 'विश्व मोहिनी' के रूप में चित्रित किया है।' इसका स्वभाव है ठगना और फँसाना। 'माया महा ठगिन हम जानी' साथ ही 'कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खाँड़' आदि से उनको इसी भावना का आभास मिलता है। माया को उन्होंने नारी के रूप में ही नहीं; बेलि के रूप में भी चित्रित किया है और उसे अनिर्वचनीय माना है। वह कहते हैं :—

जो काँटों तो डह डही, सींची तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय॥

ऐसी माया को कबीर ने त्रिगुणात्मक माना है और कहा है कि उस परमतत्व ने उसे उत्पन्न करके उसमें अपने आप को छिपा लिया है। निम्न पदों से हमें उनकी इसी प्रकार की विचार-धारा का आभास मिलता है :—

रजगुण, तमगुण, सतगुण कहिये यह सब तेरी माया ॥

× × ×

सत, रज, तम, थैं कीन्हीं माया।
आपन माँझ आप छिपाया ॥

कबीर का यह भी विश्वास है कि माया अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण परिवर्तनशील है। इसलिए संसार की सभी वस्तुएँ माया-रूपिणी एवं परिवर्तनशीला हैं। 'कबीर माया डोलनी, पवन बहै हिवधार' में कबीर ने माया की गतिशीलता की पवन के प्रवाह से उपमा दी है। 'उपजै विनसै जेती सर्व माया'—से भी उसकी परिवर्तनशीलता का ही आभास मिलता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका जन्म और नाश दोनों होता है। उसी के कारण जीव आवागमन के इन्द्रजाल में फँसता है और यही दुःख का कारण है। अतः माया स्वभावतः दुःख-रूपिणी है। वह व्यभिचारिणी और बन्धन-रूपा भी है। 'मोर-तोर' की वही जननी है। काम, क्रोध, मोह, मद एवं मत्सर उसके पुत्र हैं जो लोगों को सदा विविध प्रकार का नाच नचाया करते हैं। वह इतनी आकर्षणमयी है कि उसे छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं छूटती। संसार में आदर, मान, जप-तप, व्रत, उपवास, तीर्थ-यात्रा, रोज़ा, नमाज़ जो कुछ है वह सब माया-प्रसूत ही है। वह जल, थल और आकाश सर्वत्र परिव्याप्त है। संसार का कोना-कोना उससे अभिभूत है। उसका निवास-स्थान है मन। 'इक डायन मेरे मन बसै, नित उठ मेरे जिय को डसै' कहकर कबीर ने माया के प्रभाव को स्पष्ट कर दिया है। 'माया मुई, न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर' द्वारा उन्होंने यह भी कह दिया है कि मन की भाँति ही माया भी अविनश्वर है और मन के सारे विकार उसी के संगी-साथी हैं। ऐसी है वह माया और ऐसा है उसका आकर्षक रूप। उसका आकर्षक रूप ही भगवान की भक्ति में बाधक है। वह भक्ति नहीं करने देती। कबीर कहते हैं :—

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण में उनका अपना ही हाथ था। वह कभी झिझके नहीं, कभी झुके नहीं, कभी अटके नहीं, कभी भटके नहीं। वह अपनी साधना, अपने विश्वासों और अपनी अनुभूतियों में बराबर आगे बढ़ते रहे और एक दिन वह आया जब वह अपने मार्ग की अनेक कठिनाइयों को दूर कर बंधन-मुक्त हो गये। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है कि 'हज़ार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नहीं उत्पन्न हुआ।'

कबीर का महत्त्व

कबीर संधि-काल के विचारक और समीक्षक थे। उनका समय दो परस्पर विरोधी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के संघर्ष का युग था। विजेता के रूप में आए हुए मुसलमान विजित हिन्दुओं के साथ जीवन के किसी भी क्षेत्र में समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। हिन्दू अपना सब कुछ देकर भी अपनी सभ्यता और संस्कृत की रक्षा करने पर डटे हुए थे। ऐसी दशा में संघर्ष होना स्वभाविक ही था। इस संघर्ष का प्रभाव तत्कालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक तथा धार्मिक—पर पड़ रहा था और उनके दुखद परिणाम स्पष्ट होते जा रहे थे। साथ ही यह भी स्पष्ट होता जारहा था कि यदि विजेताओं को विजितों के साथ इसी देश में जमकर रहना है तो उन्हें यहाँ के जीवन-सिद्धान्तों के साथ किसी-न-किसी रूप में समझौता करना ही होगा। समझौते की यह भावना उच्च स्तर के लोगों की अपेक्षा निम्न अथवा अशिक्षित स्तर के लोगों में विशेष रूप से पनप रही थी। वे शान्तिपूर्वक रहकर अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहते थे। यह थी उस समय की प्रथम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या!

उपर्युक्त समस्या से ही संबंधित तत्कालीन भारतीय समाज की एक दूसरी समस्या भी थी। इस समस्या का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था से और गौणतः विदेशी जातियों से था। हिन्दू-सामाजिक व्यवस्था के जो दो स्तंभ—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्म—माने जाते हैं उनका आदि रूप निस्सन्देह आकर्षक, गतिशील और कल्याणकारी था, परन्तु समय के प्रभाव से

उनमें भी ऐसे दोष आ गए थे जिनके कारण हिन्दू समाज की एकता ही खतरे में पड़ गयी थी। वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच, छूत-अछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण की अकल्याणकारी भावनाओं से पूरित थी। इसी प्रकार आश्रम-धर्म भी निर्जीव हो रहा था। महात्मा गौतम बुद्ध ने इन दोनों स्तंभों के रूढ़ि-ग्रस्त रूपों को गति देने की चेष्टा की थी, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। क्यों? इसलिए कि वर्ण-व्यवस्था और आश्रम धर्म की जड़ें इतनी दृढ़ और समाज की मानसिक भाव-भूमि में इतनी गहरी धंसी हुई हैं कि उनका उन्मूलन किसी एक के बल-बूते का काम नहीं है। गौतम बुद्ध चले थे वर्ण-व्यवस्था का अन्त करने, परन्तु वह उसका अन्त करने के स्थान पर एक नई जाति को ही जन्म दे गये। यह उनके धर्म के स्वरूप का ही दोष था। बुद्ध धर्म एक प्रकार से भिक्षुओं का धर्म था। भिक्षुओं ने लोक-जीवन में रहकर जाति-भेद की व्यर्थता का लौकिक उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया। बौद्ध-श्रमण भी जाति-बन्धन से मुक्त होकर उसकी व्यर्थता पर आघात न कर सके। इस प्रकार के जाति-बन्धन-विरोधी आन्दोलन आगे भी हुए, परन्तु उनके सबके साथ भी यही विडम्बना थी। ऐसी विडम्बना के फलस्वरूप जाति-बन्धन शिथिल होने के स्थान पर और भी रूढ़ि-ग्रस्त होते जा रहे थे। कबीर के समय में तो उनके रूढ़ि-ग्रस्त होने के और भी कारण प्रस्तुत हो गए थे। शक, हूण, ग्रीक, कुशन, सिथियन आदि जो भी विदेशी बर्बर जातियाँ भारत में आयी थीं, उनकी सांस्कृतिक स्थिति नगण्य थी। इसलिए कालान्तर में वे भारतीय जन-समूह का अंग बन गयीं। इस्लामी सभ्यता उच्च कोटि की सभ्यता थी। आर्य-संस्कृति के लिए उसको पचाना सरल काम नहीं था। उसमें दो विशेषताएँ थीं—एक तो जातीय भ्रातृ-भाव और दूसरी सामूहिक साधना। उसकी इन्हीं दोनों विशेषताओं की ओर वर्ण-व्यवस्था से पीड़ित और आश्रम-धर्म से ऊबे हुए लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसी दशा में वर्णाश्रम-धर्म के बंधन शिथिल न होकर और भी जकड़ गए। इस्लाम की भी कुछ ऐसी ही दशा हुई। उसने जिस बर्बता से संसार के अन्य देशों में सफलता प्राप्त की थी वह भारतीय अहिंसात्मक प्रवृत्ति के सामने कुंठित हो गयी। अपने धार्मिक सिद्धान्तों के

प्रचार में उसे अपनी बर्बरता पर ही विश्वास था। भारतीय वातावरण में उसका वह विश्वास जाता रहा और वह भी धीरे-धीरे रूढ़ि-ग्रस्त हो गया—इतना रूढ़िग्रस्त हो गया कि उसमें भी दो दल हो गए। इनमें से एक दल था उन मुसलमानों का जिनमें विशुद्ध तुर्की अथवा अरबी रक्त था और दूसरा दल था उन नए मुसलमानों का जिन्होंने वर्णाश्रम-धर्म की जटिलता से ऊबकर इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। भारत की तत्कालीन इस्लामी राजनीति में इन दोनों दलों ने पूरा भाग लिया था और सच पूछिए तो यही भारत की इस्लामी सल्तन्तों के विनाश का कारण हुआ। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं से त्रस्त एवं पीड़ित थे। अतएव आवश्यकता थी ऐसी सामाजिक व्यवस्था की जो एक ओर तो दोनों को रूढ़ियों से मुक्त कर दे और दूसरी ओर उनमें भ्रातृ-भाव का संचार करे।

एक तीसरी समस्या भी थी और वह थी तत्कालीन भारतीय साधना-पद्धतियों को रूढ़ि-मुक्त करना। हम बता चुके हैं कि कबीर के समय में (१) सगुण भक्ति के अन्तर्गत वैष्णव, शैव तथा शाक्त सम्प्रदाय, (२) निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत हिन्दू-संत, एकेश्वरवादी मुसलमान तथा प्रेम-मार्गी सूफी (३) बौद्धों का सहजयानी सम्प्रदाय तथा (४) नाथ-पंथी सम्प्रदाय की धूम थी। इस्लाम-धर्म में दो दल थे—एक तो था कट्टर एकेश्वरवादी मुसलमानों का दूसरा था सूफी-मतवालों का। कट्टर एकेश्वरवादी शिया और सुन्नी में विभाजित थे। सूफी-सम्प्रदाय के लोग कट्टर एकेश्वरवादी मुल्लाओं के साथ नहीं थे। उन्हें बल था सात्विक वृत्ति के मुसलमानों का, परन्तु यह लोग भी कई सम्प्रदायों में विभक्त थे। कबीर के समय में इन सम्प्रदायों की संख्या लगभग १४ तक पहुँच चुकी थी जिनमें चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, क़ादरी सम्प्रदाय और नक़शबन्दी सम्प्रदाय प्रमुख थे। साधना के क्षेत्र में इन सभी सम्प्रदायों तथा मतों का अपना-अपना महत्व था, परन्तु उनके रूढ़ि-ग्रस्त हो जाने से उनका प्रवाह रुक-सा गया था और उनमें संकीर्णता आ गयी थी। इसलिए एक मत अथवा सम्प्रदाय के लोग दूसरे मतवालों को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

मानव-कल्याण के लिए यह स्थिति अत्यन्त भयावह थी। इसलिए अन्य समस्याओं की भाँति इन समस्या पर भी विचार करना परम आवश्यक था।

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर के समय की जिन आवश्यकताओं एवं समस्याओं की ओर संकेत किया गया है उन पर विचार और विचार के अनुसार सुधार करनेवालों के उस समय दो दल थे—एक दल तो था उन विचारकों का जो समस्त साधना-पद्धतियों की रूढ़ि-ग्रस्त परंपराओं को स्वीकार करते हुए युग के अनुकूल उनकी नवीन व्याख्या करना चाहते थे। वे प्राचीनता के पक्षपाती तो थे, पर नवीनता के विरोधी नहीं थे। दूसरे प्रकार के विचारक क्रान्किारी थे। वे समस्त रूढ़ियों को अस्वीकार करके भारतीय समाज की नये दृष्टि-कोण से व्यवस्था करना चाहते थे। यदि व्यास, शंकराचार्य, रामानुज, तुलसीदास प्रथम वर्ग के सुधारक थे तो बुद्ध, अश्व घोष, नागार्जुन, गोरख और कबीर द्वतीय वर्ग के। कबीर प्रचीनतावादी अथवा रूढ़िवादी नहीं थे। वह प्रगतिशील थे। वह समाज तथा धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर ही चोट करना चाहते थे। विजेता और विजित, हिन्दू और मुसलमान, शिया और सुन्नी, कट्टर एकश्वरवादी और सूफी मतवादी, योगी और भक्त, वैष्णव और शैव, बौद्ध और जैन, ऊँच और नीच, धनी और निर्धन, छूत और अछूत, ब्रह्म और ईश्वर—तात्पर्य यह कि इस प्रकार के जितने भी भेद-विभेद थे वह उन सबका अन्तकर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सब भाई-भाई की तरह रहें और धर्म के क्षेत्र में अपनी व्यक्तिगत साधना में विश्वास करें। कबीर का यही दृष्टि कोण उनके महत्व का सूचक है।

कबीर अपने समय की उपज थे। उन्होंने स्वयं अपना नेतृत्व और निर्माण किया था। वह द्रष्टा और युगप्रवर्तक थे। उन्होंने व्यक्ति की धार्मिक प्रवृत्तियों का अपनी दृष्टि से संस्कार किया और अपनी पाखडरहित वाणी से तत्कालीन जनता के जीवन को अनुप्राणित किया। उनके पहले कई धार्मिक नेता हो चुके थे, परन्तु उनमें अप्रिय सत्य कहने का साहस नहीं था। कबीर ने इस अभाव की पूर्ति की। भक्त-कवियों की विनयशीलता और आत्म-भर्त्सना के बीच उन्होंने स्पष्ट रूप से धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की पक्षपात रहित

आलोचना की। उन्होंने जहाँ परम्परागत हिन्दू-धर्म के कर्म-काण्ड से निर्भीक स्वर में लोहा लिया, वहाँ भारत में जड़ पकड़नेवाली इस्लाम की नवीन सांप्रदायिक भावना की भी कटु शब्दों में भर्त्सना की। इस प्रकार उन्होंने दोनों धर्मों की अधार्मिकता पर समान रूप से प्रहार किया। उपासना क्षेत्र में वह व्यक्तिगत साधना के पक्षपाती थे। वह चाहते थे साधक को स्वावलम्बी एवं आत्मविश्वासी बनाना। इसलिए समाज के संगठन में वह विशेष सफल नहीं हो सके। फिर भी उनके इस विचार ने शास्त्रीय जटिलताओं को सुलझा कर धर्म को इतना सरल और जीवन-परक बना दिया कि साधारण जनता भी उससे अन्तःप्रेरणाएँ लेने में सफल हो सकी। इतना ही नहीं, जो लोग धर्म का शास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण भौतिक ऐश्वर्य से आकर्षित होकर धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार हो जाते थे, उन्हें कबीर की पक्षपातरहित वाणी से अपने धर्म पर आरूढ़ रहने का बल मिला। इस प्रकार मुसलमानी कुल में मुसलमानी संस्कृति के बीच पोषित होकर भी उन्होंने ऐसे सार्वजनीन सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनसे हिन्दू-धर्म को भी अपने स्थान पर स्थिर रहने की क्षमता एवं दृढ़ता प्राप्त हुई। उन्होंने दोनों धर्मों के बीच समभाव की प्रतिष्ठा की। उनके विचार सब के लिए समान थे। उनके हृदय में हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए समान रूप से स्थान प्राप्त था। उनका धर्म मानव के लिए था, उस मानव के लिए जिसके हृदय में ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो, धर्म का पाखण्ड न हो। हिन्दू-धर्म के जाति-बंधन के वह कटु आलोचक थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र धनवान और निर्धन—सब समान थे। अपनी इसी सम दृष्टि के कारण वह साधारण हिन्दू-जनता में रामानन्द की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए। उपासना के क्षेत्र में रामानन्द अधिक व्यावहारिक न थे, कबीर व्यावहारिक थे। इसलिए कबीर को रामानन्द की अपेक्षा अपने सिद्धान्तों के प्रचार में अधिक सफलता मिली।

तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र में कबीर का महत्त्व उनके सम-भाव के सिद्धान्त के कारण ही था। उनका यह समभाव उनके मनन और चिन्तन का परिणाम

था। वह स्वतंत्र प्रवृत्ति के साधक थे। वह अपनी आत्मा के सच्चे और निर्भीक अनुचर थे और उसी का चित्र अपनी वाणी-द्वारा उतारा करते थे। उन्हें किसी की चिन्ता नहीं थी। वह अपनी आत्मा की ध्वनि पर मनन करते थे और उसी का प्रचार करते थे। उन्होंने समाज की मनोवृत्तियों के अनुसार अपने धार्मिक सिद्धान्तों का निर्माण न करके अपने स्वनिर्मित-सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति का निर्माण किया। इसीलिए वह अपने समय के सभी सुधारकों, संतों और धर्म-प्रवर्तकों से पृथक थे। वह क्रान्तिकारी और युग-प्रवर्तक थे। उनके सिद्धान्त उनके अपने सिद्धान्त थे, उनकी विचार-धारा उनकी अपनी विचार-धारा थी। उन्होंने जो कुछ कहा, हृदय की प्रेरणा से ही कहा। इसलिए उनका सन्देश सत्पुरुष का सन्देश था। वह संत पहले और कवि बाद को थे। उनमें धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान था, काव्यगत दृष्टिकोण गौण। उन्होंने साहित्य के लिए गीत नहीं गाये, चित्रकारी के उद्देश्य से चित्र नहीं खींचे। उन्होंने जनता के हृदय को परिष्कृत करने, उसे धार्मिक भावना से अनुप्राणित करने और उसे सत्य की ज्योति से जगमगाने के लिए अपनी वाणी को मुखरित किया। वह भाषा के पारखी नहीं थे। छन्दों का उन्हें ज्ञान नहीं था। अलङ्कारों के वह पंडित नहीं थे। वह किसी शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उन्हें जैसी भाषा मिली, जो छन्द मिले उसी में उन्होंने अपने हृदय के सत्य को चित्रित किया। उनकी अनुभूति और ज्ञान का आधार था—जीवन की खुली पुस्तक। इसीलिए उनके तर्कों में उनका अपनापन था, आत्मविश्वास की अद्भुत आभा थी।

भाषा की दृष्टि से भी कबीर का महत्व कम नहीं है। अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता तक उन्हीं की भाषा में पहुँचाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उनके समय में भाषा बन रही थी। उसका रूप निखर रहा था। उसमें साहित्य नहीं के बराबर था। कबीर ने सबसे पहले उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। उन्होंने जीवन की जटिल समस्याओं को तत्कालीन जनता की भाषा में सुलझाकर अप्रत्यक्ष रूप से उसका महत्व बढ़ा दिया। फलतः भविष्य में वही भाषा परिष्कृत होकर साहित्य का माध्यम बन गई।

कबीर विचारक संत थे। 'मसि-कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं

हाथ' से यह भी ध्वनित होता है कि उन्होंने अपने विचारों को लिपि-बद्ध भी नहीं किया, केवल मौखिक रूप से ही लोगों को उपदेश देते रहे। पुस्तक-ज्ञान को भी उन्होंने अपने जीवन में महत्व नहीं दिया। 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई', में जो व्यंग है वह उन्हीं पंडितों के प्रति है जो केवल पुस्तक-ज्ञान के आधार पर अपने पांडित्य का प्रदर्शन करते थे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ग्रन्थ-रचना को भी महत्व नहीं दिया। ऐसा लगता है कि साधु-संतों के सत्संग के अवसरों पर आवश्यकतानुसार वह पद-रचना करते रहे होंगे और उसे उनके श्रद्धालु शिष्य लिपि-बद्ध कर लेते रहे होंगे। आज उनकी जो भी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं वे सब उनके शिष्यों-द्वारा ही लिखी गयी हैं। यही कारण है कि उनमें मनमाने परिवर्तन मिलते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों-द्वारा उनके लिपि-बद्ध होने के कारण उनमें भाषा और भाव की अनेक भूलें तो हैं ही, साथ ही उनमें ऐसे पद भी अधिक हैं जिन पर कबीर के व्यक्तित्व की छाप नहीं है। यही कारण है कि अबतक उनकी रचनाओं का शुद्ध पाठ हमारे सामने नहीं आ पाया है।

कबीर की रचनाएँ

कबीर ने अनेक पदों की रचना की है। कबीर-पंथियों का तो यहाँ तक विश्वास है कि 'सद्‌गुरु की वाणियों का कहीं अन्त नहीं है'। हम ऐसा नहीं समझते। हमारा विश्वास है कि कबीर की रचनाओं की एक सीमा है, उनकी एक वास्तविक संख्या है। इस समय तक उनके नाम से जो ग्रन्थ मिलते हैं और जिनमें उनकी रचनाएँ संगृहीत हैं उनमें 'बीजक', 'आदि ग्रन्थ' तथा 'कबीर ग्रन्थावली' का विशिष्ट स्थान है। 'कबीर-बीजक' कबीर-पंथ के अनुयायियों का धर्म-ग्रन्थ है। इसमें बहुत से ऐसे पद हैं जो न तो 'आदि-ग्रन्थ' में मिलते हैं और न 'कबीर-ग्रन्थावली, में। भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी यह उक्त दोनों ग्रन्थों से मेल नहीं खाता। इसमें तीन प्रकार के छन्दों की प्रधानता है (१) साखी, (२) सबद और (३) रमैनी। 'साखी' का अर्थ है—साक्ष्य, साक्षात्कार, ज्ञान, अनुभव, दोहों में सन्तों की अनुभव-वाणी। कबीर ने अपने दोहों साखियों—में साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया है, पाखण्डपूर्ण धार्मिक कृत्यों

पर तीव्र व्यंग किया है और अपने सिद्धान्तों की विवेचना की है। इस प्रकार उनके अधिकांश दोहे नीति और उपदेश से भरे हुए हैं। 'रमैनी' से तात्पर्य है कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा। कबीर की रमैनी में दोहे के पूर्व चौपाइयों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। कहीं-कहीं चौपाइयों के पश्चात दोहे भी नहीं हैं। 'सबद' में गेय पद हैं। इनमें कबीर की अनुभूतियों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण मिलता है। इन छन्दों के अतिरिक्त इसमें ककहरा, वसन्त, चाँचरी, बेली, बिरहूली, हिंडोला आदि छन्द भी मिलते हैं। 'आदि-ग्रन्थ' पंजाबी में हैं। इसमें 'सबदों' का महत्व है। साथ ही इसमें कबीर की कुछ ऐसी रचनाएँ भी संगृहीत हैं जो उनके व्यक्तिगत जीवन पर बहुत स्पष्ट प्रकाश डालती हैं। 'कबीर-ग्रन्थावली' का संपादन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया है। इसके प्रणयन में 'श्री कबीर जी की वाणी' तथा 'आदि-ग्रन्थ' से विशेष सहायता ली गयी है।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कबीर की रचनाओं के अन्य छोटे-छोटे संग्रह भी मिलते हैं। इन संग्रहों का प्रकाशन एक विशिष्ट दृष्टि कोण से ही किया गया है। कबीर की रचनाओं का जैसा प्रमाणिक संस्करण होना चाहिए, वैसा अभी नहीं हो पाया है। प्रसन्नता की बात है कि इस ओर हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान गया है और निकट भविष्य में हमारी यह कठिनाई हल होने की पूरी संभावना है।

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्त

कबीर को कहाँ से क्या मिला, कितना मिला और उसे उन्होंने किस प्रकार अपनी अनुभूति का विषय बनाकर किस उद्देश्य से और किस रूप में जनता के सामने पुस्तुत किया?—इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। हम केवल यह देखेंगे कि वह अपनी धर्म-साधना में सोलह आना भारतीय धर्म-साधना से प्रभावित थे अथवा नहीं? इस दृष्टि से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि उन्हें शरीर मुसलमान-दम्पतियों से प्राप्त हुआ था, तथापि उनका मन, उनका हृदय तथा उनका मस्तिष्क उन हिन्दू-मनीषियों, ऋषियों और चिन्तकों का था जो संसार के माया-मोह से विरक्त होकर अपनी व्यक्तिगत साधना में पारंगत थे। वह एकान्त साधक थे। उनके उपदेशों

को कौन ग्रहण करता है, कौन नहीं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वह बहुत ऊँचे उठे हुए साधक थे। वह न तो किसी के गुरु थे, न किसी के शिष्य। स्वामी रामानन्द के उपदेशों से उन्हें जो प्रेरणा मिली थी उसे भी उन्होंने तबतक स्वीकार नहीं किया जबतक उन्होंने उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर भलीभांति कस नहीं लिया। वह जागरूक और बुद्धिवादी थे। किसी भी मत में उनका विश्वास नहीं था। वेद, पुराण, शास्त्र, क़ुरान आदि धर्म-ग्रंथों और उनके प्रणेताओं के प्रति आदर की दृष्टि से देखते हुए भी उन्होंने उनके विचारों को स्वीकार नहीं किया। वह किसी भी धर्म को असत्य अथवा कपोल-कल्पित नहीं समझते थे। सब धर्म सत्य पर ही आधारित हैं—ऐसा वह मानते थे, पर उस सत्य को उन्होंने यों ही स्वीकार नहीं किया। अंध-विश्वास को वह अपनी साधना के लिए विष समझते थे। उनकी दृष्टि में अज्ञानी और मूर्ख वह था जो बिना सोचे-समझे, बिना विचारे ही दूसरों की अनुभूतियों को सत्य मान लेता था। ऐसे ही व्यक्तियों की उन्होंने आलोचना की। उन्हें किसी से द्वेष नहीं था, पर जो लोग समाज और धर्म की पवित्रता को नष्ट करने में लगे हुए थे उन्हें फटकारने से भी वह नहीं चूके। उन्होंने उनके केवल पाखण्डपूर्ण कार्यों पर गहरी चोट की, उन सिद्धान्तों पर नहीं जिन पर उनका मत आश्रित था। वह अपने लिए जिस विचार स्वातंत्र्य को उपयुक्त और अपेक्षित समझते थे उसके लिए उन्होंने कभी किसी को दोषी नहीं ठहराया। उन्होंने सब को छूट दी, सब को सोचने-समझने का अवसर दिया। इसीलिए किसी मत विशेष का प्रवर्तन भी उन्होंने नहीं किया। उनके सिद्धान्तों को समझने में जो कठिनाई होती है, उसका यह एक प्रमुख कारण है। एक दूसरी कठिनाई भी है और यह कि वह दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं भी दार्शनिक होने का दावा नहीं किया। उनकी विचार-धारा सीधी-सादी थी। अपनी बुद्धिवादिता में वह तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्त्व देते थे। साधना के प्रश्न को तर्क-द्वारा हल करनेवालों को वह मोटी बुद्धिवाला कहते थे। 'कहत कबीर तरक जो साधै ताकी मति है मोटी'—कहकर उन्होंने तार्किकों का उपहास भी किया था। वह धर्म, राजनीति

और समाज के क्षेत्र में समरसता लाने के पक्षपाती थे। इसके लिए अनुभूति ही अपेक्षित है, तर्क नहीं। तर्क-द्वारा हम शीघ्र किसी निश्चय पर नहीं पहुँचते। शास्त्रीय तर्क के अभाव में इसीलिए कबीर को समझना कठिन हो जाता है।

कबीर के सिद्धान्तों को समझने में और भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। उनकी रचनाओं में हमें इतने विभिन्न मतों की चर्चा मिलती है और उनमें से कई की ओर वह इस प्रकार आकृष्ट जान पड़ते हैं कि उनके आधार पर हम उन्हें कभी वेदान्ती, कभी सूफी, कभी सगुणवादी, कभी निर्गुणवादी, कभी ज्ञानी, कभी भक्त और कभी योगी समझने लगते हैं। हमारी इस प्रकार की भ्रान्तपूर्ण धारणा का कारण यह है कि उनकी सिद्धान्त-सम्बन्धी समस्त बातें हमें विशेष स्थलों पर एकत्र नहीं मिलतीं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक पद ऐसे हैं जिनमें अनेक बातों का समावेश पाया जाता है। एक ही विचार-धारा को व्यक्त करनेवाले पदों में सामंजस्य का अभाव है। ऐसा लगता है कि जब जो बात उनकी अनुभूति में आई तब उन्होंने उसे पद्यबद्ध कर दिया। उनकी रचनाओं में काल-क्रम का अभाव भी एक ऐसी बाधा है जिसके कारण उनके आध्यात्मिक विकास की स्पष्ट रेखाएँ सामने नहीं आतीं और हम इधर-उधर टटोलते ही रह जाते हैं। उनकी रचनाओं का कोई प्रमाणित संस्करण भी उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी जो आलोचक उनकी रचनाओं के विचार-सागर में गहराई तक उतरे हैं उन्होंने उनके सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त किया है। सुविधा की दृष्टि से हम उनके सिद्धान्तों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) दार्शनिक सिद्धान्त और (२) सामाजिक सिद्धान्त। निम्न पंक्तियों में हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

(१) दार्शनिक सिद्धान्त—कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत तीन तत्वों की प्रधानता मिलती है—(१) परमतत्व, (२) जीवतत्व और (३) माया-तत्व। उनके **परमतत्व** पर औपनिषदीय ब्रह्मवाद का प्रभाव अवश्य है, पर उसकी व्याख्या उन्होंने अपनी अनुभूति के आधार पर की है। 'करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया' तथा 'चेतत चेतत निकसिओ नीरु।

सो जलु निरमल कथत कबीरु' ॥—में उन्होंने अपनी अनुभूति-द्वारा ही उस परमतत्व को प्राप्त करने की ओर संकेत किया है। दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने अपने परमतत्व को 'अगम', 'अगोचर', 'अलख', 'निरंजन', 'निराकार', 'निर्गुण' ही माना है। वह कहते हैं :—

बिन मुख खाइ, चरन बिन चालै,
बिन जिह्वा गुण गावै।

× × ×

जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ।

× × ×

अलख निरंजन लखै न कोई।
निरभै निराकार है सोई॥

× × ×

सुनि, असथूल, रूप नहिं रेखा।
द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहिं पेखा॥

× × ×

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा वैसा रहे, कहे कबीर विचारि॥

× × ×

पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ।
एक निराकार हृदय नमस्कारूँ॥

× × ×

वो है जैसा वो ही जानै।
ओ ही आहि, आहि नहिं आनै॥

× × ×

अविगत, अकल अनूप देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई॥

× × ×

अवगति की गति क्या कहूँ, जाकर गाँव न नांव ।

गुन बिहून का पेखिये काकर धरिए नांव ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ने अपने परमतत्व के निगुण रूप को ही अपना उपास्य माना है। हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, वेदांती और नाथपंथी मतों के अनुरूप हरि, गोविन्द, केशव, माधव, रहीम, करीम, गोरख आदि उसके अनेक नाम भी उन्होंने गिनाए हैं, पर उनमें से उन्हें उसके किसी नाम से संतोष नहीं होता। ऐसी दशा में अपने सन्तोष के लिए उन्होंने उसके साकार एवं सगुण रूप की भी कल्पना की है और फिर उसे सृष्टिकर्ता के रूप में चित्रित किया है। वह कहते हैं :—

आपन करता भये कुलाला। बहुविधि सृष्टि रची दर हाला।

विधना कुंभ किये द्वै थानां। प्रतिबिंब तामाहिं समाना ॥

× × ×

जिनि यह चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।

कहे कबीर ते जन भले जो चित्रवत लेहि विचार।

और इसके साथ ही 'भांनड़, घडण संवारण सोई' कहकर उसे नष्ट करने वाला, बनानेवाला और सुधारनेवाला भी बताते हैं। इस सगुण रूप के साथ ही उन्होंने उसके विराट रूप की भी कल्पना की है। इतना ही नहीं, उन्होंने उसे कहीं माता, कहीं पिता, कहीं पति और कहीं स्वामी के रूप में भी स्मरण किया है ;—

कोटि सूर जाके परगास, कोटि महादेव अरु कविलास।

दुर्गा कोटि जाके मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै ॥

आदि कह कर उसके व्यापक रूप में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, इन्द्र, दुर्गा, धर्मराज, नदी, पर्वत, कला, विद्या—सब को एक साथ तिरोहित कर दिया है। विष्णु के पौराणिक रुपों की भी उन्होंने कल्पना की है और नरसिंह तथा कृष्णावतार का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने परमतत्व का निरूपण विभिन्न ढंगों से किया है। इनसे हमें उनके सत्य-निरूपण-संबधी प्रारंभिक प्रयोगों का ही आभास मिलता है। ऐसा

लगता है कि आरंभ में परमतत्व संबंधी जो बिचार उनकी अनुभूति में आये होंगें उनको उन्होंने अपने पदों में निःसंकोच व्यक्त कर दिया होगा, परन्तु कालांतर में जब उन्हें उसका रहस्य खुला होगा तब उन्होंने अपने पूर्व विचारों को 'धोखा' कह कर निम्न पदों की रचना की होगी :—

संतौ, धोखा कासूं कहिए ।
गुण में निरगुण, निरगुण में गुण है, बाट छांड़ि क्यों बहिये ।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई ।
नाति स्वरूप, वरण नहिं जाके, घटि-घटि रह्य समाई ।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई ।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई ।

× × ×

लोगा भरभिन भूलहू भोई ।
खालिकु खलक खलक महिं खालिकु पूरि रह्यो सब ठाईं ॥
माटी एक अनेक भांति कर साजी साजन हारे ।
न कछु पोच माटी के भाण्डे, न कछु पोच कुँभारै ॥
सब महि सचा एको सोई, तिसका किया सब कुछ होई ।

इन पदों से स्पष्ट है कि कबीर उस परमतत्व का अस्तित्व मात्र स्वीकार करते हैं, उसे किसी नाम से अभिहित करना नहीं चाहते। यही है उनके परमतत्व की व्याख्या जिसके अनुसार वह निर्गुण और सगुण—दोनों से परे है। वह न अजर-अमर है, न अलख-निरंजन है, न ब्रह्मांड और पिंड में है। वह है और घट-घट व्यापी होते हुए भी आदि-अन्त हीन है। वह कर्ता भी है, कृति भी। अपने कृति में वह स्वयं ओतप्रोत है। कबीर कहते हैं :—

बाजीगर डंक इजाई । सब खलक तमासे आई ॥
वाजीगर स्वांगु सकेला । अपने रंग रवै अकेला ॥

× × ×

जिनि नटवर नटसारी साजी । जो खेलै सो दीसै बाजी ॥

ऐसा है कबीर का परमतत्व जो अनिर्वचनीय है। शब्दों द्वारा उसका

वर्णन नहीं हो सकता। वह अगम और अज्ञेय है। अपने को वह स्वयं आप ही जानता है और दूसरा उसे केवल 'है' ही कह सकता है। अपनी-अपनी पहुँच और अनुभूति के अनुसार ही साधक को उसका किंचित परिचय प्राप्त होता है। वह परम सत्य है और उसी का प्रसार सारे विश्व में है।

कबीर के दार्शनिक सिद्धांतों में दूसरा प्रमुख तत्व है जीव-तत्व। उन्होंने परमात्मा और जीवात्मा में कोई भेद नहीं माना है। 'खालिकु खलक खलक महिं खालिकु परि रह्यो सब ठाई'—कहकर वह हरि में पिंड और पिंड में ही हरि के अस्तित्व का समर्थन करते हैं। वह यह भी कहते हैं कि इस शरीर के भीतर समझी जानेवाली आत्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, न तपस्वी है, और न शेख ही है। 'कहै कबीर इहि राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु'—से यह स्पष्ट है कि उन्होंने उसे राम का, उस परमतत्व का अंश मात्र माना है जिस का नाश उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कागज के ऊपर से स्याही का चिह्न नहीं मिटता। उनका यह अंशाशि-भाव उनकी उन उक्तियों से भी स्पष्ट होता है जिनमें उन्होंने दोनों के संबंध को विन्दु और समुद्र के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में जीव-तत्व मूलतः और तत्वतः वही है जो परम तत्व है। जीव-तत्व और परम-तत्व में विभिन्नता का अनुभव करनेवालों को उन्होंने फटकारा है और कहा है:—

दोइ कहै तिनही को दोजख, जिन नहिन पहिचाना।

×　　×　　×

कहै कबीर तुरक दुई साधै; तिनकी मति है मोटी।

कबीर ने शरीरस्थ आत्मा के दो रूप माने हैं जिन्हें हम ज्ञाता या ज्ञेय अथवा दृष्टा या दृष्य के नाम से अभिहित कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा प्राप्ता भी है और प्राप्तव्य भी। 'आप छिपाने आपै आप'—से उनका यही तात्पर्य है। डा॰ गोविन्द त्रिगुणायत ने अपनी रचना 'कबीर की विचार-धारा' में कबीर की 'सुरति' को प्राप्ता आत्मा और निरतिको प्रातव्य आत्मा का शुद्ध मुक्त-स्वरूप माना है। जब सुरति अर्थात् प्राप्ता आत्मा का निरति अर्थात् प्राप्तव्य आत्मा

से तादात्म्यत् हो जाता है तब कल्याण और आनन्द की प्राप्ति होती है। कबीर ने कहा भी हैं :—

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भ् दुवार।

यहाँ वह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक अद्वैत तत्व भिन्न रूपों में कैसे और क्यों दिखाई पड़ता है ? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए उन्होंने प्रतिविम्ब-वाद की शरण ली है। 'ज्यों जल में प्रतिबिंब त्यों सकल रामहिं जानी जी,' में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार जल में बिम्ब के विवध प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार इस संसार में जीवात्मा के विविध रूप मिलते हैं। संक्षेप में यही हैं कबीर के जीवात्मा-संबंधी विचार जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह अद्वैतवादी थे।

अब कबीर के माया-तत्व को परखिए। हम अभी बता चुके हैं कि कबीर की दृष्टि में जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु साधारण लोगों की दृष्टि में ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसका मूल कारण है माया। संसार में जन्म लेना माया में फँसना है और माया ही उस परमतत्व से विलगाव का कारण है। वह कहते हैं:—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तथ्य कथ्यो ग्यानी॥

इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर डालनेवाली है केवल माया। इस माया को कबीर ने 'एक परम सुन्दरी' तथा 'विश्व मोहिनी' के रूप में चित्रित किया है।' इसका स्वभाव है ठगना और फँसाना। 'माया महा ठगिन हम जानी' साथ ही 'कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खाँड़' आदि से उनकी इसी भावना का आभास मिलता है। माया को उन्होंने नारी के रूप में ही नहीं; बेलि के रूप में भी चित्रित किया है और उसे अनिर्वचनीय माना है। वह कहते हैं :—

जो काँटों तो डह डही, सींची तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय॥

ऐसी माया को कबीर ने त्रिगुणात्मक माना है और कहा है कि उस परमतत्व ने उसे उत्पन्न करके उसमें अपने आप को छिपा लिया है। निम्न पदों से हमें उनकी इसी प्रकार की विचार-धारा का आभास मिलता है :—

रजगुण, तमगुण, सतगुण कहिये यह सब तेरी माया ॥

× × ×

सत, रज, तम, थैं कीन्हीं माया।
आपन माँझ आप छिपाया ॥

कबीर का यह भी विश्वास है कि माया अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण परिवर्तनशील है। इसलिए संसार की सभी वस्तुएँ माया-रूपिणी एवं परिवर्तनशीला हैं। 'कबीर माया डोलनी, पवन बहै हिवधार' में कबीर ने माया की गतिशीलता की पवन के प्रवाह से उपमा दी है। 'उपजै विनसै जेती सर्व माया'—से भो उसकी परिवर्तनशीलता का ही आभास मिलता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका जन्म और नाश दोनों होता है। उसी के कारण जीव आवागमन के इन्द्रजाल में फँसता है और यही दुःख का कारण है। अतः माया स्वभावतः दुःख-रूपिणी है। वह व्यभिचारिणी और बन्धन-रूपा भी है। 'मोर-तोर' की वही जननी है। काम, क्रोध, मोह, मद एवं मत्सर उसके पुत्र हैं जो लोगों को सदा विविध प्रकार का नाच नचाया करते हैं। वह इतनी आकर्षणमयी है कि उसे छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं छूटती। संसार में आदर, मान, जप-तप, व्रत, उपवास, तीर्थ-यात्रा, रोज़ा, नमाज़ जो कुछ है वह सब माया-प्रसूत ही है। वह जल, थल और आकाश सर्वत्र परिव्याप्त है। संसार का कोना-कोना उससे अभिभूत है। उसका निवास-स्थान है मन। 'इक डायन मेरे मन बसै, नित उठ मेरे जिय को डसै' कहकर कबीर ने माया के प्रभाव को स्पष्ट कर दिया है। 'माया मुई, न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर' द्वारा उन्होंने यह भी कह दिया है कि मन की भाँति ही माया भी अविनश्वर है और मन के सारे विकार उसी के संगी-साथी हैं। ऐसी है वह माया और ऐसा है उसका आकर्षक रूप। उसका आकर्षक रूप ही भगवान की भक्ति में बाधक है। वह भक्ति नहीं करने देती। कबीर कहते हैं :—

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण में उनका अपना ही हाथ था। वह कभी झिझके नहीं, कभी झुके नहीं, कभी अटके नहीं, कभी भटके नहीं। वह अपनी साधना, अपने विश्वासों और अपनी अनुभूतियों में बराबर आगे बढ़ते रहे और एक दिन वह आया जब वह अपने मार्ग की अनेक कठिनाइयों को दूर कर बंधन-मुक्त हो गये। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है कि 'हज़ार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नहीं उत्पन्न हुआ।'

कबीर का महत्त्व

कबीर संधि-काल के विचारक और समीक्षक थे। उनका समय दो परस्पर विरोधी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के संघर्ष का युग था। विजेता के रूप में आए हुए मुसलमान विजित हिन्दुओं के साथ जीवन के किसी भी क्षेत्र में समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। हिन्दू अपना सब कुछ देकर भी अपनी सभ्यता और संस्कृत की रक्षा करने पर डटे हुए थे। ऐसी दशा में संघर्ष होना स्वभाविक ही था। इस संघर्ष का प्रभाव तत्कालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक तथा धार्मिक—पर पड़ रहा था और उनके दुखद परिणाम स्पष्ट होते जा रहे थे। साथ ही यह भी स्पष्ट होता जारहा था कि यदि विजेताओं को विजितों के साथ इसी देश में जमकर रहना है तो उन्हें यहाँ के जीवन-सिद्धान्तों के साथ किसी-न-किसी रूप में समझौता करना ही होगा। समझौते की यह भावना उच्च स्तर के लोगों की अपेक्षा निम्न अथवा अशिक्षित स्तर के लोगों में विशेष रूप से पनप रही थी। वे शान्तिपूर्वक रहकर अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहते थे। यह थी उस समय की प्रथम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या!

उपर्युक्त समस्या से ही संबंधित तत्कालीन भारतीय समाज की एक दूसरी समस्या भी थी। इस समस्या का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था से और गौणतः विदेशी जातियों से था। हिन्दू-सामाजिक व्यवस्था के जो दो स्तंभ—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्म—माने जाते हैं उनका आदि रूप निस्सन्देह आकर्षक, गतिशील और कल्याणकारी था, परन्तु समय के प्रभाव से

२

उनमें भी ऐसे दोष आ गए थे जिनके कारण हिन्दू समाज की एकता ही खतरे में पड़ गयी थी। वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच, छूत-अछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण की अकल्याणकारी भावनाओं से पूरित थी। इसी प्रकार आश्रम-धर्म भी निर्जीव हो रहा था। महात्मा गौतम बुद्ध ने इन दोनों स्तंभों के रूढ़ि-ग्रस्त रूपों को गति देने की चेष्टा की थी, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। क्यों? इसलिए कि वर्ण-व्यवस्था और आश्रम धर्म की जड़ें इतनी दृढ़ और समाज की मानसिक भाव-भूमि में इतनी गहरी धंसी हुई हैं कि उनका उन्मूलन किसी एक के बल-बूते का काम नहीं है। गौतम बुद्ध चले थे वर्ण-व्यवस्था का अन्त करने, परन्तु वह उसका अन्त करने के स्थान पर एक नई जाति को ही जन्म दे गये। यह उनके धर्म के स्वरूप का ही दोष था। बुद्ध धर्म एक प्रकार से भिक्षुओं का धर्म था। भिक्षुओं ने लोक-जीवन में रहकर जाति-भेद की व्यर्थता का लौकिक उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया। बौद्ध-श्रमण भी जाति-बन्धन से मुक्त होकर उसकी व्यर्थता पर आघात न कर सके। इस प्रकार के जाति-बन्धन-विरोधी आन्दोलन आगे भी हुए, परन्तु उनके सबके साथ भी यही विडम्बना थी। ऐसी विडम्बना के फलस्वरूप जाति-बन्धन शिथिल होने के स्थान पर और भी रूढ़ि-ग्रस्त होते जा रहे थे। कबीर के समय में तो उनके रूढ़ि-ग्रस्त होने के और भी कारण प्रस्तुत हो गए थे। शक, हूण, ग्रीक, कुशन, सिथियन आदि जो भी विदेशी बर्बर जातियाँ भारत में आयी थीं, उनकी सांस्कृतिक स्थिति नगण्य थी। इसलिए कालान्तर में वे भारतीय जन-समूह का अंग बन गयीं। इस्लामी सभ्यता उच्च कोटि की सभ्यता थी। आर्य-संस्कृति के लिए उसको पचाना सरल काम नहीं था। उसमें दो विशेषताएँ थीं—एक तो जातीय भ्रातृ-भाव और दूसरी सामूहिक साधना। उसकी इन्हीं दोनों विशेषताओं का ओर वर्ण-व्यवस्था से पीड़ित और आश्रम-धर्म से ऊबे हुए लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसी दशा में वर्णाश्रम-धर्म के बंधन शिथिल न होकर और भी जकड़ गए। इस्लाम की भी कुछ ऐसी ही दशा हुई। उसने जिस बर्बता से संसार के अन्य देशों में सफलता प्राप्त की थी वह भारतीय अहिंसात्मक प्रवृत्ति के सामने कुंठित हो गयी। अपने धार्मिक सिद्धान्तों के

प्रचार में उसे अपनी बर्बरता पर ही विश्वास था। भारतीय वातावरण में उसका वह विश्वास जाता रहा और वह भी धीरे-धीरे रूढ़ि-ग्रस्त हो गया—इतना रूढ़िग्रस्त हो गया कि उसमें भी दो दल हो गए। इनमें से एक दल था उन मुसलमानों का जिनमें विशुद्ध तुर्की अथवा अरबी रक्त था और दूसरा दल था उन नए मुसलमानों का जिन्होंने वर्णाश्रम-धर्म की जटिलता से ऊबकर इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। भारत की तत्कालीन इस्लामी राजनीति में इन दोनों दलों ने पूरा भाग लिया था और सच पूछिए तो यही भारत की इस्लामी सल्तन्तों के विनाश का कारण हुआ। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं से त्रस्त एवं पीड़ित थे। अतएव आवश्यकता थी ऐसी सामाजिक व्यवस्था की जो एक ओर तो दोनों को रूढ़ियों से मुक्त कर दे और दूसरी ओर उनमें भ्रातृ-भाव का संचार करे।

एक तीसरी समस्या भी थी और वह थी तत्कालीन भारतीय साधना-पद्धतियों को रूढ़ि-मुक्त करना। हम बता चुके हैं कि कबीर के समय में (१) सगुण भक्ति के अन्तर्गत वैष्णव, शैव तथा शाक्त सम्प्रदाय, (२) निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत हिन्दू-संत, एकेश्वरवादी मुसलमान तथा प्रेम-मार्गी सूफी (३) बौद्धों का सहजयानी सम्प्रदाय तथा (४) नाथ-पंथी सम्प्रदाय की धूम थी। इस्लाम-धर्म में दो दल थे—एक तो था कट्टर एकेश्वरवादी मुसलमानों का दूसरा था सूफी-मतवालों का। कट्टर एकेश्वरवादी शिया और सुन्नी में विभाजित थे। सूफी-सम्प्रदाय के लोग कट्टर एकेश्वरवादी मुल्लाओं के साथ नहीं थे। उन्हें बल था सात्विक वृत्ति के मुसलमानों का, परन्तु यह लोग भी कई सम्प्रदायों में विभक्त थे। कबीर के समय में इन सम्प्रदायों की संख्या लगभग १४ तक पहुँच चुकी थी जिनमें चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, क़ादरी सम्प्रदाय और नक्शबन्दी सम्प्रदाय प्रमुख थे। साधना के क्षेत्र में इन सभी सम्प्रदायों तथा मतों का अपना-अपना महत्व था, परन्तु उनके रूढ़ि-ग्रस्त हो जाने से उनका प्रवाह रुक-सा गया था और उनमें संकीर्णता आ गयी थी। इसलिए एक मत अथवा सम्प्रदाय के लोग दूसरे मतवालों को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

मानव-कल्याण के लिए यह स्थिति अत्यन्त भयावह थी। इसलिए अन्य समस्याओं की भाँति इन समस्या पर भी विचार करना परम आवश्यक था।

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर के समय की जिन आवश्यकताओं एवं समस्याओं की ओर संकेत किया गया है उन पर विचार और विचार के अनुसार सुधार करनेवालों के उस समय दो दल थे—एक दल तो था उन विचारकों का जो समस्त साधना-पद्धतियों की रूढ़ि-ग्रस्त परंपराओं को स्वीकार करते हुए युग के अनुकूल उनकी नवीन व्याख्या करना चाहते थे। वे प्राचीनता के पक्षपाती तो थे, पर नवीनता के विरोधी नहीं थे। दूसरे प्रकार के विचारक क्रान्तिकारी थे। वे समस्त रूढ़ियों को अस्वीकार करके भारतीय समाज की नये दृष्टि-कोण से व्यवस्था करना चाहते थे। यदि व्यास, शंकराचार्य, रामानुज, तुलसीदास प्रथम वर्ग के सुधारक थे तो बुद्ध, अश्व घोष, नागार्जुन, गोरख और कबीर द्वतीय वर्ग के। कबीर प्रचीनतावादी अथवा रूढ़िवादी नहीं थे। वह प्रगतिशील थे। वह समाज तथा धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर ही चोट करना चाहते थे। विजेता और विजित, हिन्दू और मुसलमान, शिया और सुन्नी, कट्टर एकश्वरवादी और सूफी मतवादी, योगी और भक्त, वैष्णव और शैव, बौद्ध और जैन, ऊँच और नीच, धनी और निर्धन, छूत और अछूत, ब्रह्म और ईश्वर——तात्पर्य यह कि इस प्रकार के जितने भी भेद-विभेद थे वह उन सबका अन्तकर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सब भाई-भाई की तरह रहें और धर्म के क्षेत्र में अपनी व्यक्तिगत साधना में विश्वास करें। कबीर का यही दृष्टिकोण उनके महत्त्व का सूचक है।

कबीर अपने समय की उपज थे। उन्होंने स्वयं अपना नेतृत्व और निर्माण किया था। वह द्रष्टा और युगप्रवर्तक थे। उन्होंने व्यक्ति की धार्मिक प्रवृत्तियों का अपनी दृष्टि से संस्कार किया और अपनी पाखण्डरहित वाणी से तत्कालीन जनता के जीवन को अनुप्राणित किया। उनके पहले कई धार्मिक नेता हो चुके थे, परन्तु उनमें अप्रिय सत्य कहने का साहस नहीं था। कबीर ने इस अभाव की पूर्ति की। भक्त-कवियों की विनयशीलता और आत्म-भर्त्सना के बीच उन्होने स्पष्ट रूप से धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की पक्षपात रहित

आलोचना की। उन्होंने जहाँ परम्परागत हिन्दू-धर्म के कर्म-काण्ड से निर्भीक स्वर में लोहा लिया, वहाँ भारत में जड़ पकड़नेवाली इस्लाम की नवीन सांप्रदायिक भावना की भी कटु शब्दों में भर्त्सना की। इस प्रकार उन्होंने दोनों धर्मों की अधार्मिकता पर समान रूप से प्रहार किया। उपासना क्षेत्र में वह व्यक्तिगत साधना के पक्षपाती थे। वह चाहते थे साधक को स्वावलम्बी एवं आत्मविश्वासी बनाना। इसलिए समाज के संगठन में वह विशेष सफल नहीं हो सके। फिर भी उनके इस विचार ने शास्त्रीय जटिलताओं को सुलझा कर धर्म को इतना सरल और जीवन-परक बना दिया कि साधारण जनता भी उससे अन्तःप्रेरणाएँ लेने में सफल हो सकी। इतना ही नहीं, जो लोग धर्म का शास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण भौतिक ऐश्वर्य से आकर्षित होकर धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार हो जाते थे, उन्हें कबीर की पक्षपातरहित वाणी से अपने धर्म पर आरूढ़ रहने का बल मिला। इस प्रकार मुसलमानी कुल में मुसलमानी संस्कृति के बीच पोषित होकर भी उन्होंने ऐसे सार्वजनीन सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनसे हिन्दू-धर्म को भी अपने स्थान पर स्थिर रहने की क्षमता एवं दृढ़ता प्राप्त हुई। उन्होंने दोनों धर्मों के बीच समभाव की प्रतिष्ठा की। उनके विचार सब के लिए समान थे। उनके हृदय में हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए समान रूप से स्थान प्राप्त था। उनका धर्म मानव के लिए था, उस मानव के लिए जिसके हृदय में ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो, धर्म का पाखण्ड न हो। हिन्दू-धर्म के जाति-बंधन के वह कटु आलोचक थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र धनवान और निर्धन—सब समान थे। अपनी इसी सम दृष्टि के कारण वह साधारण हिन्दू-जनता में रामानन्द की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए। उपासना के क्षेत्र में रामानन्द अधिक व्यावहारिक न थे, कबीर व्यावहारिक थे। इसलिए कबीर को रामानन्द की अपेक्षा अपने सिद्धान्तों के प्रचार में अधिक सफलता मिली।

तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र में कबीर का महत्त्व उनके सम-भाव के सिद्धान्त के कारण ही था। उनका यह समभाव उनके मनन और चिन्तन का परिणाम

था। वह स्वतंत्र प्रवृत्ति के साधक थे। वह अपनी आत्मा के सच्चे और निर्भीक अनुचर थे और उसी का चित्र अपनी वाणी-द्वारा उतारा करते थे। उन्हें किसी की चिन्ता नहीं थी। वह अपनी आत्मा की ध्वनि पर मनन करते थे और उसी का प्रचार करते थे। उन्होंने समाज की मनोवृत्तियों के अनुसार अपने धार्मिक सिद्धान्तों का निर्माण न करके अपने स्वनिर्मित-सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति का निर्माण किया। इसीलिए वह अपने समय के सभी सुधारकों, संतों और धर्म-प्रवर्तकों से पृथक थे। वह क्रान्तिकारी और युग-प्रवर्तक थे। उनके सिद्धान्त उनके अपने सिद्धान्त थे, उनकी विचार-धारा उनकी अपनी विचार-धारा थी। उन्होंने जो कुछ कहा, हृदय की प्रेरणा से ही कहा। इसलिए उनका सन्देश सत्पुरुष का सन्देश था। वह संत पहले और कवि बाद को थे। उनमें धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान था, काव्यगत दृष्टिकोण गौण। उन्होंने साहित्य के लिए गीत नहीं गाये, चित्रकारी के उद्देश्य से चित्र नहीं खींचे। उन्होंने जनता के हृदय को परिष्कृत करने, उसे धार्मिक भावना से अनुप्राणित करने और उसे सत्य की ज्योति से जगमगाने के लिए अपनी वाणी को मुखरित किया। वह भाषा के पारखी नहीं थे। छन्दों का उन्हें ज्ञान नहीं था। अलङ्कारों के वह पंडित नहीं थे। वह किसी शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उन्हें जैसी भाषा मिली, जो छन्द मिले उसी में उन्होंने अपने हृदय के सत्य को चित्रित किया। उनकी अनुभूति और ज्ञान का आधार था—जीवन की खुली पुस्तक। इसीलिए उनके तर्कों में उनका अपनापन था, आत्मविश्वास की अद्भुत आभा थी।

भाषा की दृष्टि से भी कबीर का महत्व कम नहीं है। अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता तक उन्हीं की भाषा में पहुँचाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उनके समय में भाषा बन रही थी। उसका रूप निखर रहा था। उसमें साहित्य नहीं के बराबर था। कबीर ने सबसे पहले उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। उन्होंने जीवन की जटिल समस्याओं को तत्कालीन जनता की भाषा में सुलझाकर अप्रत्यक्ष रूप से उसका महत्व बढ़ा दिया। फलतः भविष्य में वही भाषा परिष्कृत होकर साहित्य का माध्यम बन गई।

कबीर विचारक संत थे। 'मसि-कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं

हाथ' से यह भी ध्वनित होता है कि उन्होंने अपने विचारों को लिपि-बद्ध भी नहीं किया, केवल मौखिक रूप से ही लोगों को उपदेश

कबीर की रचनाएँ

देते रहे। पुस्तक-ज्ञान को भी उन्होंने अपने जीवन में महत्व नहीं दिया। 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई', में जो व्यंग है वह उन्हीं पंडितों के प्रति है जो केवल पुस्तक-ज्ञान के आधार पर अपने पांडित्य का प्रदर्शन करते थे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ग्रन्थ-रचना को भी महत्व नहीं दिया। ऐसा लगता है कि साधु-संतों के सत्संग के अवसरों पर आवश्यकतानुसार वह पद-रचना करते रहे होंगे और उसे उनके श्रद्धालु शिष्य लिपि-बद्ध कर लेते रहे होंगे। आज उनकी जो भी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं वे सब उनके शिष्यों-द्वारा ही लिखी गयी हैं। यही कारण है कि उनमें मनमाने परिवर्तन मिलते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों-द्वारा उनके लिपि-बद्ध होने के कारण उनमें भाषा और भाव की अनेक भूलें तो हैं ही, साथ ही उनमें ऐसे पद भी अधिक हैं जिन पर कबीर के व्यक्तित्व की छाप नहीं है। यही कारण है कि अबतक उनकी रचनाओं का शुद्ध पाठ हमारे सामने नहीं आ पाया है।

कबीर ने अनेक पदों की रचना की है। कबीर-पंथियों का तो यहाँ तक विश्वास है कि 'सद्‌गुरु की वाणियों का कहीं अन्त नहीं है'। हम ऐसा नहीं समझते। हमारा विश्वास है कि कबीर की रचनाओं को एक सीमा है, उनकी एक वास्तविक संख्या है। इस समय तक उनके नाम से जो ग्रन्थ मिलते हैं और जिनमें उनकी रचनाएँ संगृहीत हैं उनमें 'बीजक', 'आदि ग्रन्थ' तथा 'कबीर ग्रन्थावली' का विशिष्ट स्थान है। 'कबीर-बीजक' कबीर-पंथ के अनुयायियों का धर्म-ग्रन्थ है। इसमें बहुत से ऐसे पद हैं जो न तो 'आदि-ग्रन्थ' में मिलते हैं और न 'कबीर-ग्रन्थावली, में। भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी यह उक्त दोनों ग्रन्थों से मेल नहीं खाता। इसमें तीन प्रकार के छन्दों की प्रधानना है (१) साखी, (२) सबद और (३) रमैनी। 'साखी' का अर्थ है—साक्ष्य, साक्षात्यकार, ज्ञान, अनुभव, दोहों में सन्तों की अनुभव-वाणी। कबीर ने अपने दोहों साखियों—में साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया है, पाखण्डपूर्ण धार्मिक कृत्यों

पर तीव्र व्यंग किया है और अपने सिद्धान्तों की विवेचना की है। इस प्रकार उनके अधिकांश दोहे नीति और उपदेश से भरे हुए हैं। 'रमैनी' से तात्पर्य है कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा। कबीर की रमैनी में दोहे के पूर्व चौपाइयों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। कहीं-कहीं चौपाइयों के पश्चात दोहे भी नहीं हैं। 'सबद' में गेय पद हैं। इनमें कबीर की अनुभूतियों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण मिलता है। इन छन्दों के अतिरिक्त इसमें ककहरा, बसन्त, चाँचरी, बेली, बिरहूली, हिंडोला आदि छन्द भी मिलते हैं। 'आदि-ग्रन्थ' पंजाबी में है। इसमें 'सबदों' का महत्व है। साथ ही इसमें कबीर की कुछ ऐसी रचनाएँ भी संगृहीत हैं जो उनके व्यक्तिगत जीवन पर बहुत स्पष्ट प्रकाश डालती हैं। 'कबीर-ग्रन्थावली' का संपादन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया है। इसके प्रणयन में 'श्री कबीर जी की वाणी' तथा 'आदि-ग्रन्थ' से विशेष सहायता ली गयी है।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कबीर की रचनाओं के अन्य छोटे-छोटे संग्रह भी मिलते हैं। इन संग्रहों का प्रकाशन एक विशिष्ट दृष्टि कोण से ही किया गया है। कबीर की रचनाओं का जैसा प्रमाणिक संस्करण होना चाहिए, वैसा अभी नहीं हो पाया है। प्रसन्नता की बात है कि इस ओर हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान गया है और निकट भविष्य में हमारी यह कठिनाई हल होने की पूरी संभावना है।

कबीर को कहाँ से क्या मिला, कितना मिला और उसे उन्होंने किस प्रकार अपनी अनुभूति का विषय बनाकर किस उद्देश्य से और किस रूप में जनता के सामने पुस्तुत किया?—इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। हम केवल यह देखेंगे कि वह अपनी धर्म-साधना में सोलह आना भारतीय धर्म-साधना से प्रभावित थे अथवा नहीं? इस दृष्टि से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि उन्हें शरीर मुसलमान-दम्पतियों से प्राप्त हुआ था, तथापि उनका मन, उनका हृदय तथा उनका मस्तिष्क उन हिन्दू-मनीषियों, ऋषियों और चिन्तकों का था जो संसार के माया-मोह से विरक्त होकर अपनी व्यक्तिगत साधना में पारंगत थे। वह एकान्त साधक थे। उनके उपदेशों

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्त

को कौन ग्रहण करता है, कौन नहीं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वह बहुत ऊँचे उठे हुए साधक थे। वह न तो किसी के गुरु थे, न किसी के शिष्य। स्वामी रामानन्द के उपदेशों से उन्हें जो प्रेरणा मिली थी उसे भी उन्होंने तबतक स्वीकार नहीं किया जबतक उन्होंने उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर भलीभांति कस नहीं लिया। वह जागरूक और बुद्धिवादी थे। किसी भी मत में उनका विश्वास नहीं था। वेद, पुराण, शास्त्र, क़ुरान आदि धर्म-ग्रंथों और उनके प्रणेताओं के प्रति आदर की दृष्टि से देखते हुए भी उन्होंने उनके विचारों को स्वीकार नहीं किया। वह किसी भी धर्म को असत्य अथवा कपोल-कल्पित नहीं समझते थे। सब धर्म सत्य पर ही आधारित हैं—ऐसा वह मानते थे, पर उस सत्य को उन्होंने यों ही स्वीकार नहीं किया। अंध-विश्वास को वह अपनी साधना के लिए विष समझते थे। उनकी दृष्टि में अज्ञानी और मूर्ख वह था जो बिना सोचे-समझे, बिना विचारे ही दूसरों की अनुभूतियों को सत्य मान लेता था। ऐसे ही व्यक्तियों की उन्होंने आलोचना की। उन्हें किसी से द्वेष नहीं था, पर जो लोग समाज और धर्म की पवित्रता को नष्ट करने में लगे हुए थे उन्हें फटकारने से भी वह नहीं चूके। उन्होंने उनके केवल पाखण्डपूर्ण कार्यों पर गहरी चोट की, उन सिद्धान्तों पर नहीं जिन पर उनका मत आश्रित था। वह अपने लिए जिस विचार स्वातंत्र्य को उपयुक्त और अपेक्षित समझते थे उसके लिए उन्होंने कभी किसी को दोषी नहीं ठहराया। उन्होंने सब को छूट दी, सब को सोचने-समझने का अवसर दिया। इसीलिए किसी मत विशेष का प्रवर्तन भी उन्होंने नहीं किया। उनके सिद्धान्तों को समझने में जो कठिनाई होती है, उसका यह एक प्रमुख कारण है। एक दूसरी कठिनाई भी है और यह कि वह दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं भी दार्शनिक होने का दावा नहीं किया। उनकी विचार-धारा सीधी-सादी थी। अपनी बुद्धिवादिता में वह तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्त्व देते थे। साधना के प्रश्न को तर्क-द्वारा हल करनेवालों को वह मोटी बुद्धिवाला कहते थे। 'कहत कबीर तरक जो साधै ताकी मति है मोटी'—कहकर उन्होंने तार्किकों का उपहास भी किया था। वह धर्म, राजनीति

और समाज के क्षेत्र में समरसता लाने के पक्षपाती थे। इसके लिए अनुभूति ही अपेक्षित है, तर्क नहीं। तर्क-द्वारा हम शीघ्र किसी निश्चय पर नहीं पहुँचते। शास्त्रीय तर्क के अभाव में इसीलिए कबीर को समझना कठिन हो जाता है।

कबीर के सिद्धान्तों को समझने में और भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। उनकी रचनाओं में हमें इतने विभिन्न मतों की चर्चा मिलती है और उनमें से कई की ओर वह इस प्रकार आकृष्ट जान पड़ते हैं कि उनके आधार पर हम उन्हें कभी वेदान्ती, कभी सूफी, कभी सगुणवादी, कभी निर्गुणवादी, कभी ज्ञानी, कभी भक्त और कभी योगी समझने लगते हैं। हमारी इस प्रकार की भ्रान्तपूर्ण धारणा का कारण यह है कि उनकी सिद्धान्त-सम्बन्धी समस्त बातें हमें विशेष स्थलों पर एकत्र नहीं मिलतीं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक पद ऐसे हैं जिनमें अनेक बातों का समावेश पाया जाता है। एक ही विचार-धारा को व्यक्त करनेवाले पदों में सामंजस्य का अभाव है। ऐसा लगता है कि जब जो बात उनकी अनुभूति में आई तब उन्होंने उसे पद्यबद्ध कर दिया। उनकी रचनाओं में काल-क्रम का अभाव भी एक ऐसी बाधा है जिसके कारण उनके आध्यात्मिक विकास की स्पष्ट रेखाएँ सामने नहीं आतीं और हम इधर-उधर टटोलते ही रह जाते हैं। उनकी रचनाओं का कोई प्रमाणित संस्करण भी उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी जो आलोचक उनकी रचनाओं के विचार-सागर में गहराई तक उतरे हैं उन्होंने उनके सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त किया है। सुविधा की दृष्टि से हम उनके सिद्धान्तों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) दार्शनिक सिद्धान्त और (२) सामाजिक सिद्धान्त। निम्न पंक्तियों में हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

(१) दार्शनिक सिद्धान्त—कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत तीन तत्वों की प्रधानता मिलती है—(१) परमतत्व, (२) जीवतत्व और (३) माया-तत्व। **उनके परमतत्व** पर औपनिषदीय ब्रह्मवाद का प्रभाव अवश्य है, पर उसकी व्याख्या उन्होंने अपनी अनुभूति के आधार पर की है। 'करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया' तथा 'चेतत चेतत निकसिओ नीरु।

बो जलु निरमल कथत कबीरु' ॥—में उन्होंने अपनी अनुभूति-द्वारा ही उस परमतत्व को प्राप्त करने की ओर संकेत किया है। दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने अपने परमतत्व को 'अगम', 'अगोचर', 'अलख', 'निरंजन', 'निराकार', 'निर्गुण' ही माना है। वह कहते हैं :—

बिन मुख खाइ, चरन बिन चालै,
बिन जिह्वा गुण गावै।

× × ×

जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ।

× × ×

अलख निरंजन लखै न कोई।
निरभै निराकार है सोई॥

× × ×

सुनि, असथूल, रूप नहिं रेखा।
द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहिं पेखा॥

× × ×

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा वैसा रहे, कहे कबीर विचारि॥

× × ×

पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ।
एक निराकार हृदय नमस्कारूँ॥

× × ×

वो है जैसा वो ही जानै।
ओ ही आहिं, आहि नहिं आनै॥

× × ×

अविगत, अकल अनूप देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगे जानि मिठाई॥

× × ×

अवगति की गति क्या कहूँ, जाकर गाँव न नांव ।
गुन बिहून का पेखिये काकर धरिए नांव ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ने अपने परमतत्व के निर्गुण रूप को ही अपना उपास्य माना है। हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, वेदांती और नाथपंथी मतों के अनुरूप हरि, गोविन्द, केशव, माधव, रहीम, करीम, गोरख आदि उसके अनेक नाम भी उन्होंने गिनाए हैं, पर उनमें से उन्हें उसके किसी नाम से संतोष नहीं होता। ऐसी दशा में अपने सन्तोष के लिए उन्होंने उसके साकार एवं सगुण रूप की भी कल्पना की है और फिर उसे सृष्टिकर्ता के रूप में चित्रित किया है। वह कहते हैं :—

आपन करता भये कुलाला। बहुविधि सृष्टि रची दर हाला।
विधना कुंभ किये द्वै थानां। प्रतिबिंब तामाहिं समाना ॥

× × ×

जिनि यह चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहे कबीर ते जन भले जो चित्रवत लेहि विचार।

और इसके साथ ही 'भांनड़, घडण संवारण सोई' कहकर उसे नष्ट करने वाला, बनानेवाला और सुधारनेवाला भी बताते हैं। इस सगुण रूप के साथ ही उन्होंने उसके विराट रूप की भी कल्पना की है। इतना ही नहीं, उन्होंने उसे कहीं माता, कहीं पिता, कहीं पति और कहीं स्वामी के रूप में भी स्मरण किया है ;—

कोटि सूर जाके परगास, कोटि महादेव अरु कविलास।
दुर्गा कोटि जाके मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै ॥

आदि कह कर उसके व्यापक रूप में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, इन्द्र, दुर्गा, धर्मराज, नदी, पर्वत, कला, विद्या—सब को एक साथ तिरोहित कर दिया है। विष्णु के पौराणिक रुपों की भी उन्होंने कल्पना की है और नरसिंह तथा कृष्णावतार का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने परमतत्व का निरूपण विभिन्न ढंगों से किया है। इनसे हमें उनके सत्य-निरूपण-संबधी प्रारंभिक प्रयोगों का ही आभास मिलता है। ऐसा

लगता है कि आरंभ में परमतत्व संबंधी जो बिचार उनकी अनुभूति में आये होंगे उनको उन्होंने अपने पदों में निःसंकोच व्यक्त कर दिया होगा, परन्तु कालांतर में जब उन्हें उसका रहस्य खुला होगा तब उन्होंने अपने पूर्व विचारों को 'धोखा' कह कर निम्न पदों की रचना की होगी :—

संतौ, धोखा कासूं कहिए।
गुण में निरगुण, निरगुण में गुण है, बाट छांड़ि क्यों बहिये।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई।
नाति स्वरूप, वरण नहिं जाके, घटि-घटि रह्य समाई।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई।

× × ×

लोगा भरमिन भूलहु भोई।
खालिकु खलक खलक महिं खालिकु पूरि रह्यो सब ठाईं॥
माटी एक अनेक भांति कर साजी साजन हारे।
न कछु पोच माटी के भाणे, न कछु पोच कुँभारै॥
सब महि सच्चा एको सोई, तिसका किया सब कुछ होई।

इन पदों से स्पष्ट है कि कबीर उस परमतत्व का अस्तित्व मात्र स्वीकार करते हैं, उसे किसी नाम से अभिहित करना नहीं चाहते। यही है उनके परमतत्व की व्याख्या जिसके अनुसार वह निर्गुण और सगुण—दोनों से परे है। वह न अजर-अमर है, न अलख-निरंजन है; न ब्रह्मांड और पिंड में है। वह है और घट-घट व्यापी होते हुए भी आदि-अन्त हीन है। वह कर्ता भी है, कृति भी। अपने कृति में वह स्वयं ओतप्रोत है। कबीर कहते हैं :—

बाजीगर डंक इजाई। सब खलक तमासे आई॥
बाजीगर स्वांगु सकेला। अपने रंग रवै अकेला॥

× × ×

जिनि नटवर नटसारी साजी। जो खेलै सो दीसे बाजी॥

ऐसा है कबीर का परमतत्व जो अनिर्वचनीय है। शब्दों द्वारा उसका

वर्णन नहीं हो सकता। वह अगम और अज्ञेय है। अपने को वह स्वयं आप ही जानता है और दूसरा उसे केवल 'है' ही कह सकता है। अपनी-अपनी पहुँच और अनुभूति के अनुसार ही साधक को उसका किंचित परिचय प्राप्त होता है। वह परम सत्य है और उसी का प्रसार सारे विश्व में है।

कबीर के दार्शनिक सिद्धांतों में दूसरा प्रमुख तत्व है जीव-तत्व। उन्होंने परमात्मा और जीवात्मा में कोई भेद नहीं माना है। 'खालिकु खलक खलक महिं खालिकु परि रह्यो सब ठाईं'—कहकर वह हरि में पिंड और पिंड में ही हरि के अस्तित्व का समर्थन करते हैं। वह यह भी कहते हैं कि इस शरीर के भीतर समझी जानेवाली आत्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, न तपस्वी है, और न शेख ही है। 'कहै कबीर इहि राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु'—से यह स्पष्ट है कि उन्होंने उसे राम का, उस परमतत्व का अंश मात्र माना है जिस का नाश उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कागज के ऊपर से स्याही का चिह्न नहीं मिटता। उनका यह अंशाशि-भाव उनकी उन उक्तियों से भी स्पष्ट होता है जिनमें उन्होंने दोनों के संबंध को विन्दु और समुद्र के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में जीव-तत्व मूलतः और तत्वतः वही है जो परम तत्व है। जीव-तत्व और परम-तत्व में विभिन्नता का अनुभव करनेवालों को उन्होंने फटकारा है और कहा है :—

दोइ कहै तिनही को दोजख, जिन नहिन पहिचाना।

× × ×

कहै कबीर तुरक दुई साधै; तिनकी मति है मोटी।

कबीर ने शरीरस्थ आत्मा के दो रूप माने हैं जिन्हें हम ज्ञाता या ज्ञेय अथवा द्रष्टा या दृश्य के नाम से अभिहित कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा प्राप्ता भी है और प्राप्तव्य भी। 'आप छिपाने आपै आप'—से उनका यही तात्पर्य है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने अपनी रचना 'कबीर की विचार-धारा' में कबीर की 'सुरति' को प्राप्ता आत्मा और निरतिको प्रातव्य आत्मा का शुद्ध मुक्त-स्वरूप माना है। जब सुरति अर्थात् प्राप्ता आत्मा का निरति अर्थात् प्राप्तव्य आत्मा

से तादात्म्यत् हो जाता है तब कल्याण और आनन्द की प्राप्ति होती है। कबीर ने कहा भी हैं :—

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भू दुवार।

यहाँ वह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक अद्वैत तत्व भिन्न रूपों में कैसे और क्यों दिखाई पड़ता है? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए उन्होंने प्रतिबिम्ब-वाद की शरण ली है। 'ज्यों जल में प्रतिबिंब त्यों सकल रामहिं जानी जी,' में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार जल में बिम्ब के विवध प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार इस संसार में जीवात्मा के विविध रूप मिलते हैं। संक्षेप में यही हैं कबीर के जीवात्मा-संबंधी विचार जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह अद्वैतवादी थे।

अब कबीर के माया-तत्व को परखिए। हम अभी बता चुके हैं कि कबीर की दृष्टि में जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु साधारण लोगों की दृष्टि में ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसका मूल कारण है माया। संसार में जन्म लेना माया में फँसना है और माया ही उस परमतत्व से विलगाव का कारण है। वह कहते हैं:—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तथ्य कथ्यो ग्यानी॥

इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर डालनेवाली है केवल माया। इस माया को कबीर ने 'एक परम सुन्दरी' तथा 'विश्व मोहिनी' के रूप में चित्रित किया है।' इसका स्वभाव है ठगना और फँसाना। 'माया महा ठगिन हम जानी' साथ ही 'कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खाँड़' आदि से उनकी इसी भावना का आभास मिलता है। माया को उन्होंने नारी के रूप में ही नहीं; बेलि के रूप में भी चित्रित किया है और उसे अनिर्वचनीय माना है। वह कहते हैं :—

जो काँटों तो डह डही, सींची तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय॥

ऐसी माया को कबीर ने त्रिगुणात्मक माना है और कहा है कि उस परमतत्व ने उसे उत्पन्न करके उसमें अपने आप को छिपा लिया है। निम्न पदों से हमें उनकी इसी प्रकार की विचार-धारा का आभास मिलता है :—

रजगुण, तमगुण, सतगुण कहिये यह सब तेरी माया ॥

× × ×

सत, रज, तम, थैं कीन्हीं माया ।
आपन माँझ आप छिपाया ॥

कबीर का यह भी विश्वास है कि माया अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण परिवर्तनशील है। इसलिए संसार की सभी वस्तुएँ माया-रूपिणी एवं परिवर्तनशीला हैं। 'कबीर माया डोलनी, पवन बहै हिवधार' में कबीर ने माया की गतिशीलता की पवन के प्रवाह से उपमा दी है। 'उपजै विनसै जेती सर्व माया'—से भी उसकी परिवर्तनशीलता का ही आभास मिलता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका जन्म और नाश दोनों होता है। उसी के कारण जीव आवागमन के इन्द्रजाल में फँसता है और यही दुःख का कारण है। अतः माया स्वभावतः दुःख-रूपिणी है। वह व्यभिचारिणी और बन्धन-रूपा भी है। 'मोर-तोर' की वही जननी है। काम, क्रोध, मोह, मद एवं मत्सर उसके पुत्र हैं जो लोगों को सदा विविध प्रकार का नाच नचाया करते हैं। वह इतनी आकर्षणमयी है कि उसे छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं छूटती। संसार में आदर, मान, जप-तप, व्रत, उपवास, तीर्थ-यात्रा, रोज़ा, नमाज़ जो कुछ है वह सब माया-प्रसूत ही है। वह जल, थल और आकाश सर्वत्र परिव्याप्त है। संसार का कोना-कोना उससे अभिभूत है। उसका निवास-स्थान है मन। 'इक डायन मेरे मन बसै, नित उठ मेरे जिय को डसै' कहकर कबीर ने माया के प्रभाव को स्पष्ट कर दिया है। 'माया मुई, न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर' द्वारा उन्होंने यह भी कह दिया है कि मन की भाँति ही माया भी अविनश्वर है और मन के सारे विकार उसी के संगी-साथी हैं। ऐसी है वह माया और ऐसा है उसका आकर्षक रूप। उसका आकर्षक रूप ही भगवान की भक्ति में बाधक है। वह भक्ति नहीं करने देती। कबीर कहते हैं :—

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्त्व जिसके निर्माण में उनका अपना ही हाथ था। वह कभी झिझके नहीं, कभी झुके नहीं, कभी अटके नहीं, कभी भटके नहीं। वह अपनी साधना, अपने विश्वासों और अपनी अनुभूतियों में बराबर आगे बढ़ते रहे और एक दिन वह आया जब वह अपने मार्ग की अनेक कठिनाइयों को दूर कर बंधन-मुक्त हो गये। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्त्व के सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है कि 'हज़ार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्त्व लेकर कोई लेखक नहीं उत्पन्न हुआ।'

कबीर का महत्त्व

कबीर संधि-काल के विचारक और समीक्षक थे। उनका समय दो परस्पर विरोधी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के संघर्ष का युग था। विजेता के रूप में आए हुए मुसलमान विजित हिन्दुओं के साथ जीवन के किसी भी क्षेत्र में समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। हिन्दू अपना सब कुछ देकर भी अपनी सभ्यता और संस्कृत की रक्षा करने पर डटे हुए थे। ऐसी दशा में संघर्ष होना स्वभाविक ही था। इस संघर्ष का प्रभाव तत्कालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक तथा धार्मिक—पर पड़ रहा था और उनके दुखद परिणाम स्पष्ट होते जा रहे थे। साथ ही यह भी स्पष्ट होता जारहा था कि यदि विजेताओं को विजितों के साथ इसी देश में जमकर रहना है तो उन्हें यहाँ के जीवन-सिद्धान्तों के साथ किसी-न-किसी रूप में समझौता करना ही होगा। समझौते की यह भावना उच्च स्तर के लोगों की अपेक्षा निम्न अथवा अशिक्षित स्तर के लोगों में विशेष रूप से पनप रही थी। वे शान्तिपूर्वक रहकर अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहते थे। यह थी उस समय की प्रथम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या!

उपर्युक्त समस्या से ही संबंधित तत्कालीन भारतीय समाज की एक दूसरी समस्या भी थी। इस समस्या का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था से और गौणतः विदेशी जातियों से था। हिन्दू-सामाजिक व्यवस्था के जो दो स्तंभ—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्म—माने जाते हैं उनका आदि रूप निस्सन्देह आकर्षक, गतिशील और कल्याणकारी था, परन्तु समय के प्रभाव से

उनमें भी ऐसे दोष आ गए थे जिनके कारण हिन्दू समाज की एकता ही खतरे में पड़ गयी थी। वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच, छूत-अछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण की अकल्याणकारी भावनाओं से पूरित थी। इसी प्रकार आश्रम-धर्म भी निर्जीव हो रहा था। महात्मा गौतम बुद्ध ने इन दोनों स्तंभों के रूढ़ि-ग्रस्त रूपों को गति देने की चेष्टा की थी, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। क्यों ? इसलिए कि वर्ण-व्यवस्था और आश्रम धर्म की जड़ें इतनी दृढ़ और समाज की मानसिक भाव-भूमि में इतनी गहरी धंसी हुई हैं कि उनका उन्मूलन किसी एक के बल-बूते का काम नहीं है। गौतम बुद्ध चले थे वर्ण-व्यवस्था का अन्त करने, परन्तु वह उसका अन्त करने के स्थान पर एक नई जाति को ही जन्म दे गये। यह उनके धर्म के स्वरूप का ही दोष था। बुद्ध धर्म एक प्रकार से भिक्षुओं का धर्म था। भिक्षुओं ने लोक-जीवन में रहकर जाति-भेद की व्यर्थता का लौकिक उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया। बौद्ध-श्रमण भी जाति-बन्धन से मुक्त होकर उसकी व्यर्थता पर आघात न कर सके। इस प्रकार के जाति-बन्धन-विरोधी आन्दोलन आगे भी हुए, परन्तु उनके सबके साथ भी यही विडम्बना थी। ऐसी विडम्बना के फलस्वरूप जाति-बन्धन शिथिल होने के स्थान पर और भी रूढ़ि-ग्रस्त होते जा रहे थे। कबीर के समय में तो उनके रूढ़ि-ग्रस्त होने के और भी कारण प्रस्तुत हो गए थे। शक, हूण, ग्रीक, कुशन, सिथियन आदि जो भी विदेशी बर्बर जातियाँ भारत में आयी थीं, उनकी सांस्कृतिक स्थिति नगण्य थी। इसलिए कालान्तर में वे भारतीय जन-समूह का अंग बन गयीं। इस्लामी सभ्यता उच्च कोटि की सभ्यता थी। आर्य-संस्कृति के लिए उसको पचाना सरल काम नहीं था। उसमें दो विशेषताएँ थीं—एक तो जातीय भ्रातृ-भाव और दूसरी सामूहिक साधना। उसकी इन्हीं दोनों विशेषताओं की ओर वर्ण-व्यवस्था से पीड़ित और आश्रम-धर्म से ऊबे हुए लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसी दशा में वर्णाश्रम-धर्म के बंधन शिथिल न होकर और भी जकड़ गए। इस्लाम की भी कुछ ऐसी ही दशा हुई। उसने जिस बर्बरता से संसार के अन्य देशों में सफलता प्राप्त की थी वह भारतीय अहिंसात्मक प्रवृत्ति के सामने कुंठित हो गयी। अपने धार्मिक सिद्धान्तों के

प्रचार में उसे अपनी बर्बरता पर ही विश्वास था। भारतीय वातावरण में उसका वह विश्वास जाता रहा और वह भी धीरे-धीरे रूढ़ि-ग्रस्त हो गया—इतना रूढ़िग्रस्त हो गया कि उसमें भी दो दल हो गए। इनमें से एक दल था उन मुसलमानों का जिनमें विशुद्ध तुर्की अथवा अरबी रक्त था और दूसरा दल था उन नए मुसलमानों का जिन्होंने वर्णाश्रम-धर्म की जटिलता से ऊबकर इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। भारत की तत्कालीन इस्लामी राजनीति में इन दोनों दलों ने पूरा भाग लिया था और सच पूछिए तो यही भारत की इस्लामी सल्तन्तों के विनाश का कारण हुआ। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं से त्रस्त एवं पीड़ित थे। अतएव आवश्यकता थी ऐसी सामाजिक व्यवस्था की जो एक ओर तो दोनों को रूढ़ियों से मुक्त कर दे और दूसरी ओर उनमें भ्रातृ-भाव का संचार करे।

एक तीसरी समस्या भी थी और वह थी तत्कालीन भारतीय साधना-पद्धतियों को रूढ़ि-मुक्त करना। हम बता चुके हैं कि कबीर के समय में (१) सगुण भक्ति के अर्न्तगत वैष्णव, शैव तथा शाक्त सम्प्रदाय, (२) निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत हिन्दू-संत, एकेश्वरवादी मुसलमान तथा प्रेम-मार्गी सूफी (३) बौद्धों का सहजयानी सम्प्रदाय तथा (४) नाथ-पंथी सम्प्रदाय की धूम थी। इस्लाम-धर्म में दो दल थे—एक तो था कट्टर एकेश्वरवादी मुसलमानों का दूसरा था सूफी-मतवालों का। कट्टर एकेश्वरवादी शिया और सुन्नी में विभाजित थे। सूफी-सम्प्रदाय के लोग कट्टर एकेश्वरवादी मुल्लाओं के साथ नहीं थे। उन्हें बल था सात्विक वृत्ति के मुसलमानों का, परन्तु यह लोग भी कई सम्प्रदायों में विभक्त थे। कबीर के समय में इन सम्प्रदायों की संख्या लगभग १४ तक पहुँच चुकी थी जिनमें चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, क़ादरी सम्प्रदाय और नक्शबन्दी सम्प्रदाय प्रमुख थे। साधना के क्षेत्र में इन सभी सम्प्रदायों तथा मतों का अपना-अपना महत्व था, परन्तु उनके रूढ़ि-ग्रस्त हो जाने से उनका प्रवाह रुक-सा गया था और उनमें संकीर्णता आ गयी थी। इसलिए एक मत अथवा सम्प्रदाय के लोग दूसरे मतवालों को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

मानव-कल्याण के लिए यह स्थिति अत्यन्त भयावह थी। इसलिए अन्य समस्याओं की भाँति इन समस्या पर भी विचार करना परम आवश्यक था।

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर के समय की जिन आवश्यकताओं एवं समस्याओं की ओर संकेत किया गया है उन पर विचार और विचार के अनुसार सुधार करनेवालों के उस समय दो दल थे—एक दल तो था उन विचारकों का जो समस्त साधना-पद्धतियों की रूढ़ि-ग्रस्त परंपराओं को स्वीकार करते हुए युग के अनुकूल उनकी नवीन व्याख्या करना चाहते थे। वे प्राचीनता के पक्षपाती तो थे, पर नवीनता के विरोधी नहीं थे। दूसरे प्रकार के विचारक क्रान्तिकारी थे। वे समस्त रूढ़ियों को अस्वीकार करके भारतीय समाज की नये दृष्टि-कोण से व्यवस्था करना चाहते थे। यदि व्यास, शंकराचार्य, रामानुज, तुलसीदास प्रथम वर्ग के सुधारक थे तो बुद्ध, अश्व घोष, नागार्जुन, गोरख और कबीर द्वतीय वर्ग के। कबीर प्रचीनतावादी अथवा रूढ़िवादी नहीं थे। वह प्रगतिशील थे। वह समाज तथा धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर ही चोट करना चाहते थे। विजेता और विजित, हिन्दू और मुसलमान, शिया और सुन्नी, कट्टर एकश्वरवादी और सूफी मतवादी, योगी और भक्त, वैष्णव और शैव, बौद्ध और जैन, ऊँच और नीच, धनी और निर्धन, छूत और अछूत, ब्रह्म और ईश्वर—तात्पर्य यह कि इस प्रकार के जितने भी भेद-विभेद थे वह उन सबका अन्तकर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सब भाई-भाई की तरह रहें और धर्म के क्षेत्र में अपनी व्यक्तिगत साधना में विश्वास करें। कबीर का यही दृष्टि कोण उनके महत्त्व का सूचक है।

कबीर अपने समय को उपज थे। उन्होंने स्वयं अपना नेतृत्व और निर्माण किया था। वह द्रष्टा और युगप्रवर्तक थे। उन्होंने व्यक्ति की धार्मिक प्रवृत्तियों का अपनी दृष्टि से संस्कार किया और अपनी पाखण्डरहित वाणी से तत्कालीन जनता के जीवन को अनुप्राणित किया। उनके पहले कई धार्मिक नेता हो चुके थे, परन्तु उनमें अप्रिय सत्य कहने का साहस नहीं था। कबीर ने इस अभाव की पूर्ति की। भक्त-कवियों की विनयशीलता और आत्म-भर्त्सना के बीच उन्होंने स्पष्ट रूप से धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की पक्षपात रहित

आलोचना की। उन्होंने जहाँ परम्परागत हिन्दू-धर्म के कर्म-काण्ड से निर्भीक स्वर में लोहा लिया, वहाँ भारत में जड़ पकड़नेवाली इस्लाम की नवीन सांप्रदायिक भावना की भी कटु शब्दों में भर्त्सना की। इस प्रकार उन्होंने दोनों धर्मों की अधार्मिकता पर समान रूप से प्रहार किया। उपासना क्षेत्र में वह व्यक्तिगत साधना के पक्षपाती थे। वह चाहते थे साधक को स्वावलम्बी एवं आत्मविश्वासी बनाना। इसलिए समाज के संगठन में वह विशेष सफल नहीं हो सके। फिर भी उनके इस विचार ने शास्त्रीय जटिलताओं को सुलझा कर धर्म को इतना सरल और जीवन-परक बना दिया कि साधारण जनता भी उससे अन्तःप्रेरणाएँ लेने में सफल हो सकी। इतना ही नहीं, जो लोग धर्म का शास्त्रीय ज्ञान 'न होने के कारण भौतिक ऐश्वर्य से आकर्षित होकर धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार हो जाते थे, उन्हें कबीर की पक्षपातरहित वाणी से अपने धर्म पर आरूढ़ रहने का बल मिला। इस प्रकार मुसलमानी कुल में मुसलमानी संस्कृति के बीच पोषित होकर भी उन्होंने ऐसे सार्वजनीन सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनसे हिन्दू-धर्म को भी अपने स्थान पर स्थिर रहने की क्षमता एवं दृढ़ता प्राप्त हुई। उन्होंने दोनों धर्मों के बीच समभाव की प्रतिष्ठा की। उनके विचार सब के लिए समान थे। उनके हृदय में हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए समान रूप से स्थान प्राप्त था। उनका धर्म मानव के लिए था, उस मानव के लिए जिसके हृदय में ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो, धर्म का पाखण्ड न हो। हिन्दू-धर्म के जाति-बंधन के वह कटु आलोचक थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र धनवान और निर्धन—सब समान थे। अपनी इसी सम दृष्टि के कारण वह साधारण हिन्दू-जनता में रामानन्द की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए। उपासना के क्षेत्र में रामानन्द अधिक व्यावहारिक न थे, कबीर व्यावहारिक थे। इसलिए कबीर को रामानन्द की अपेक्षा अपने सिद्धान्तों के प्रचार में अधिक सफलता मिली।

तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र में कबीर का महत्त्व उनके सम-भाव के सिद्धान्त के कारण ही था। उनका यह समभाव उनके मनन और चिन्तन का परिणाम

था। वह स्वतंत्र प्रवृत्ति के साधक थे। वह अपनी आत्मा के सच्चे और निर्भीक अनुचर थे और उसी का चित्र अपनी वाणी-द्वारा उतारा करते थे। उन्हें किसी की चिन्ता नहीं थी। वह अपनी आत्मा की ध्वनि पर मनन करते थे और उसी का प्रचार करते थे। उन्होंने समाज की मनोवृत्तियों के अनुसार अपने धार्मिक सिद्धान्तों का निर्माण न करके अपने स्वनिर्मित-सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति का निर्माण किया। इसीलिए वह अपने समय के सभी सुधारकों, संतों और धर्म-प्रवर्तकों से पृथक थे। वह क्रान्तिकारी और युग-प्रवर्तक थे। उनके सिद्धान्त उनके अपने सिद्धान्त थे, उनकी विचार-धारा उनकी अपनी विचार-धारा थी। उन्होंने जो कुछ कहा, हृदय की प्रेरणा से ही कहा। इसलिए उनका सन्देश सत्पुरुष का सन्देश था। वह संत पहले और कवि बाद को थे। उनमें धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान था, काव्यगत दृष्टिकोण गौण। उन्होंने साहित्य के लिए गीत नहीं गाये, चित्रकारी के उद्देश्य से चित्र नहीं खींचे। उन्होंने जनता के हृदय को परिष्कृत करने, उसे धार्मिक भावना से अनुप्राणित करने और उसे सत्य की ज्योति से जगमगाने के लिए अपनी वाणी को मुखरित किया। वह भाषा के पारखी नहीं थे। छन्दों का उन्हें ज्ञान नहीं था। अलङ्कारों के वह पंडित नहीं थे। वह किसी शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उन्हें जैसी भाषा मिली, जो छन्द मिले उसी में उन्होंने अपने हृदय के सत्य को चित्रित किया। उनकी अनुभूति और ज्ञान का आधार था—जीवन की खुली पुस्तक। इसीलिए उनके तर्कों में उनका अपनापन था, आत्मविश्वास की अद्भुत आभा थी।

भाषा की दृष्टि से भी कबीर का महत्व कम नहीं है। अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता तक उन्हीं की भाषा में पहुँचाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उनके समय में भाषा बन रही थी। उसका रूप निखर रहा था। उसमें साहित्य नहीं के बराबर था। कबीर ने सबसे पहले उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। उन्होंने जीवन की जटिल समस्याओं को तत्कालीन जनता की भाषा में सुलझाकर अप्रत्यक्ष रूप से उसका महत्व बढ़ा दिया। फलतः भविष्य में वही भाषा परिष्कृत होकर साहित्य का माध्यम बन गई।

कबीर विचारक संत थे। 'मसि-कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं

हाथ' से यह भी ध्वनित होता है कि उन्होंने अपने विचारों को लिपि-बद्ध भी नहीं किया, केवल मौखिक रूप से ही लोगों को उपदेश देते रहे। पुस्तक-ज्ञान को भी उन्होंने अपने जीवन में महत्व नहीं दिया। 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई', में जो व्यंग है वह उन्हीं पंडितों के प्रति है जो केवल पुस्तक-ज्ञान के आधार पर अपने पांडित्य का प्रदर्शन करते थे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ग्रन्थ-रचना को भी महत्व नहीं दिया। ऐसा लगता है कि साधु-संतों के सत्संग के अवसरों पर आवश्यकतानुसार वह पद-रचना करते रहे होंगे और उसे उनके श्रद्धालु शिष्य लिपि-बद्ध कर लेते रहे होंगे। आज उनकी जो भी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं वे सब उनके शिष्यों-द्वारा ही लिखी गयी हैं। यही कारण है कि उनमें मनमाने परिवर्तन मिलते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों-द्वारा उनके लिपि-बद्ध होने के कारण उनमें भाषा और भाव की अनेक भूलें तो हैं ही, साथ ही उनमें ऐसे पद भी अधिक हैं जिन पर कबीर के व्यक्तित्व की छाप नहीं है। यही कारण है कि अबतक उनकी रचनाओं का शुद्ध पाठ हमारे सामने नहीं आ पाया है।

कबीर की रचनाएँ

कबीर ने अनेक पदों की रचना की है। कबीर-पंथियों का तो यहाँ तक विश्वास है कि 'सद्‌गुरु की वाणियों का कहीं अन्त नहीं है'। हम ऐसा नहीं समझते। हमारा विश्वास है कि कबीर की रचनाओं की एक सीमा है, उनकी एक वास्तविक संख्या है। इस समय तक उनके नाम से जो ग्रन्थ मिलते हैं और जिनमें उनकी रचनाएँ संगृहीत हैं उनमें 'बीजक', 'आदि ग्रन्थ' तथा 'कबीर ग्रन्थावली' का विशिष्ट स्थान है। 'कबीर-बीजक' कबीर-पंथ के अनुयायियों का धर्म-ग्रन्थ है। इसमें बहुत से ऐसे पद हैं जो न तो 'आदि-ग्रन्थ' में मिलते हैं और न 'कबीर-ग्रन्थावली, में। भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी यह उक्त दोनों ग्रन्थों से मेल नहीं खाता। इसमें तीन प्रकार के छन्दों की प्रधानता है (१) साखी, (२) सबद और (३) रमैनी। 'साखी' का अर्थ है—साक्ष्य, साक्षात्कार, ज्ञान, अनुभव, दोहों में सन्तों की अनुभव-वाणी। कबीर ने अपने दोहों साखियों—में साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया है, पाखण्डपूर्ण धार्मिक कृत्यों

पर तीव्र व्यंग किया है और अपने सिद्धान्तों की विवेचना की है। इस प्रकार उनके अधिकांश दोहे नीति और उपदेश से भरे हुए हैं। 'रमैनी' से तात्पर्य है कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा। कबीर की रमैनी में दोहे के पूर्व चौपाइयों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। कहीं-कहीं चौपाइयों के पश्चात दोहे भी नहीं हैं। 'सबद' में गेय पद हैं। इनमें कबीर की अनुभूतियों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण मिलता है। इन छन्दों के अतिरिक्त इसमें ककहरा, वसन्त, चाँचरी, बेली, बिरहुली, हिंडोला आदि छन्द भी मिलते हैं। 'आदि-ग्रन्थ' पंजाबी में है। इसमें 'सबदों' का महत्व है। साथ ही इसमें कबीर की कुछ ऐसी रचनाएँ भी संगृहीत हैं जो उनके व्यक्तिगत जीवन पर बहुत स्पष्ट प्रकाश डालती हैं। 'कबीर-ग्रन्थावली' का संपादन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया है। इसके प्रणयन में 'श्री कबीर जी की वाणी' तथा 'आदि-ग्रन्थ' से विशेष सहायता ली गयी है।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कबीर की रचनाओं के अन्य छोटे-छोटे संग्रह भी मिलते हैं। इन संग्रहों का प्रकाशन एक विशिष्ट दृष्टि कोण से ही किया गया है। कबीर की रचनाओं का जैसा प्रमाणिक संस्करण होना चाहिए, वैसा अभी नहीं हो पाया है। प्रसन्नता की बात है कि इस ओर हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान गया है और निकट भविष्य में हमारी यह कठिनाई हल होने की पूरी संभावना है।

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्त

कबीर को कहाँ से क्या मिला, कितना मिला और उसे उन्होंने किस प्रकार अपनी अनुभूति का विषय बनाकर किस उद्देश्य से और किस रूप में जनता के सामने प्रस्तुत किया?—इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। हम केवल यह देखेंगे कि वह अपनी धर्म-साधना में सोलह आना भारतीय धर्म-साधना से प्रभावित थे अथवा नहीं? इस दृष्टि से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि उन्हें शरीर मुसलमान-दम्पतियों से प्राप्त हुआ था, तथापि उनका मन, उनका हृदय तथा उनका मस्तिष्क उन हिन्दू-मनीषियों, ऋषियों और चिन्तकों का था जो संसार के माया-मोह से विरक्त होकर अपनी व्यक्तिगत साधना में पारंगत थे। वह एकान्त साधक थे। उनके उपदेशों

को कौन ग्रहण करता है, कौन नहीं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वह बहुत ऊँचे उठे हुए साधक थे। वह न तो किसी के गुरु थे, न किसी के शिष्य। स्वामी रामानन्द के उपदेशों से उन्हें जो प्रेरणा मिली थी उसे भी उन्होंने तबतक स्वीकार नहीं किया जबतक उन्होंने उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर भलीभांति कस नहीं लिया। वह जागरूक और बुद्धिवादी थे। किसी भी मत में उनका विश्वास नहीं था। वेद, पुराण, शास्त्र, क़ुरान आदि धर्म-ग्रंथों और उनके प्रणेताओं के प्रति आदर की दृष्टि से देखते हुए भी उन्होंने उनके विचारों को स्वीकार नहीं किया। वह किसी भी धर्म को असत्य अथवा कपोल-कल्पित नहीं समझते थे। सब धर्म सत्य पर ही आधारित हैं—ऐसा वह मानते थे, पर उस सत्य को उन्होंने यों ही स्वीकार नहीं किया। अंध-विश्वास को वह अपनी साधना के लिए विष समझते थे। उनकी दृष्टि में अज्ञानी और मूर्ख वह था जो बिना सोचे-समझे, बिना विचारे ही दूसरों की अनुभूतियों को सत्य मान लेता था। ऐसे ही व्यक्तियों की उन्होंने आलोचना की। उन्हें किसी से द्वेष नहीं था, पर जो लोग समाज और धर्म की पवित्रता को नष्ट करने में लगे हुए थे उन्हें फटकारने से भी वह नहीं चूके। उन्होंने उनके केवल पाखण्डपूर्ण कार्यों पर गहरी चोट की, उन सिद्धान्तों पर नहीं जिन पर उनका मत आश्रित था। वह अपने लिए जिस विचार स्वातंत्र्य को उपयुक्त और अपेक्षित समझते थे उसके लिए उन्होंने कभी किसी को दोषी नहीं ठहराया। उन्होंने सब को छूट दी, सब को सोचने-समझने का अवसर दिया। इसीलिए किसी मत विशेष का प्रवर्तन भी उन्होंने नहीं किया। उनके सिद्धान्तों को समझने में जो कठिनाई होती है, उसका यह एक प्रमुख कारण है। एक दूसरी कठिनाई भी है और यह कि वह दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं भी दार्शनिक होने का दावा नहीं किया। उनकी विचार-धारा सीधी-सादी थी। अपनी बुद्धिवादिता में वह तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्त्व देते थे। साधना के प्रश्न को तर्क-द्वारा हल करनेवालों को वह मोटी बुद्धिवाला कहते थे। 'कहत कबीर तरक जो साधै ताकी मति है मोटी'—कहकर उन्होंने तार्किकों का उपहास भी किया था। वह धर्म, राजनीति

और समाज के क्षेत्र में समरसता लाने के पक्षपाती थे। इसके लिए अनुभूति ही अपेक्षित है, तर्क नहीं। तर्क-द्वारा हम शीघ्र किसी निश्चय पर नहीं पहुँचते। शास्त्रीय तर्क के अभाव में इसीलिए कबीर को समझना कठिन हो जाता है।

कबीर के सिद्धान्तों को समझने में और भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। उनकी रचनाओं में हमें इतने विभिन्न मतों की चर्चा मिलती है और उनमें से कई की ओर वह इस प्रकार आकृष्ट जान पड़ते हैं कि उनके आधार पर हम उन्हें कभी वेदान्ती, कभी सूफी, कभी सगुणवादी, कभी निर्गुणवादी, कभी ज्ञानी, कभी भक्त और कभी योगी समझने लगते हैं। हमारी इस प्रकार की भ्रान्तपूर्ण धारणा का कारण यह है कि उनकी सिद्धान्त-सम्बन्धी समस्त बातें हमें विशेष स्थलों पर एकत्र नहीं मिलतीं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक पद ऐसे हैं जिनमें अनेक बातों का समावेश पाया जाता है। एक ही विचार-धारा को व्यक्त करनेवाले पदों में सामंजस्य का अभाव है। ऐसा लगता है कि जब जो बात उनकी अनुभूति में आई तब उन्होंने उसे पद्यबद्ध कर दिया। उनकी रचनाओं में काल-क्रम का अभाव भी एक ऐसी बाधा है जिसके कारण उनके आध्यात्मिक विकास की स्पष्ट रेखाएँ सामने नहीं आतीं और हम इधर-उधर टटोलते ही रह जाते हैं। उनकी रचनाओं का कोई प्रमाणित संस्करण भी उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी जो आलोचक उनकी रचनाओं के विचार-सागर में गहराई तक उतरे हैं उन्होंने उनके सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त किया है। सुविधा की दृष्टि से हम उनके सिद्धान्तों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं —(१) दार्शनिक सिद्धान्त और (२) सामाजिक सिद्धान्त। निम्न पंक्तियों में हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

(१) दार्शनिक सिद्धान्त—कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत तीन तत्वों की प्रधानता मिलती है—(१) परमतत्व, (२) जीवतत्व और (३) माया-तत्व। उनके **परमतत्व** पर औपनिषदीय ब्रह्मवाद का प्रभाव अवश्य है, पर उसकी व्याख्या उन्होंने अपनी अनुभूति के आधार पर की है। 'करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया' तथा 'चेतत चेतत निकसिओ नीरु।

सो जलु निरमल कथत कबीरु' ॥—में उन्होंने अपनी अनुभूति-द्वारा ही उस परमतत्व को प्राप्त करने की ओर संकेत किया है। दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने अपने परमतत्व को 'अगम', 'अगोचर', 'अलख', 'निरंजन', 'निराकार', 'निर्गुण' ही माना है। वह कहते हैं :—

बिन मुख खाइ, चरन बिन चालै,
बिन जिह्वा गुण गावै।

× × ×

जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ।

× × ×

अलख निरंजन लखै न कोई।
निरभै निराकार है सोई॥

× × ×

सुनि, असथूल, रूप नहिं रेखा।
द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहिं पेखा॥

× × ×

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा वैसा रहे, कहे कबीर विचारि॥

× × ×

पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ।
एक निराकार हृदय नमस्कारूँ॥

× × ×

वो है जैसा वो ही जानै।
ओ ही आहिं, आहि नहिं आनै॥

× × ×

अविगत, अकल अनूप देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई॥

× × ×

अवगति की गति क्या कहूँ, जाकर गाँव न नांव ।
गुन बिहून का पेखिये काकर धरिए नांव ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ने अपने परमतत्व के निगुंण रूप को ही अपना उपास्य माना है। हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, वेदांती और नाथपंथी मतों के अनुरूप हरि, गोविन्द, केशव, माधव, रहीम, करीम, गोरख आदि उसके अनेक नाम भी उन्होंने गिनाए हैं, पर उनमें से उन्हें उसके किसी नाम से संतोष नहीं होता। ऐसी दशा में अपने सन्तोष के लिए उन्होंने उसके साकार एवं सगुण रूप की भी कल्पना की है और फिर उसे सृष्टिकर्ता के रूप में चित्रित किया है। वह कहते हैं :—

आपन करता भये कुलाला। बहुविधि सृष्टि रची दर हाला।
विधना कुंभ किये द्वै थाना। प्रतिबिंब तामाहिं समाना ॥

× × ×

जिनि यह चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार ।
कहे कबीर ते जन भले जो चित्रवत लेहि विचार ।

और इसके साथ ही 'भांनड़, घडण संवारण सोई' कहकर उसे नष्ट करने वाला, बनानेवाला और सुधारनेवाला भी बताते हैं। इस सगुण रूप के साथ ही उन्होंने उसके विराट रूप की भी कल्पना की है। इतना ही नहीं, उन्होंने उसे कहीं माता, कहीं पिता, कहीं पति और कहीं स्वामी के रूप में भी स्मरण किया है ;—

कोटि सूर जाके परगास, कोटि महादेव अरु कविलास ।
दुर्गा कोटि जाके मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै ॥

आदि कह कर उसके व्यापक रूप में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, इन्द्र, दुर्गा, धर्मराज, नदी, पर्वत, कला, विद्या—सब को एक साथ तिरोहित कर दिया है। विष्णु के पौराणिक रूपों की भी उन्होंने कल्पना की है और नरसिंह तथा कृष्णावतार का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने परमतत्व का निरूपण विभिन्न ढंगों से किया है। इनसे हमें उनके सत्य-निरूपण-संबधी प्रारंभिक प्रयोगों का ही आभास मिलता है। ऐसा

लगता है कि आरंभ में परमतत्व संबंधी जो बिचार उनकी अनुभूति में आये होगें उनको उन्होंने अपने पदों में निःसंकोच व्यक्त कर दिया होगा, परन्तु कालांतर में जब उन्हें उसका रहस्य खुला होगा तब उन्होंने अपने पूर्व विचारों को 'धोखा' कह कर निम्न पदों की रचना की होगी :—

संतो, धोखा कासूं कहिए।
गुण में निरगुण, निरगुण में गुण है, बाट छाड़ि क्यों बहिये।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई।
नाति स्वरूप, वरण नहिं जाके, घटि-घटि रह्य समाई।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई।

× × ×

लोगा भरमिन भूलहु भोई।
खालिकु खलक खलक महिं खालिकु पूरि रह्यो सब ठाईं॥
माटी एक अनेक भांति कर साजी साजन हारे।
न कछु पोच माटी के भाण्डे, न कछु पोच कुँभारे॥
सब महिं सच्चा एको सोई, तिसका किया सब कुछ होई।

इन पदों से स्पष्ट है कि कबीर उस परमतत्व का अस्तित्व मात्र स्वीकार करते हैं, उसे किसी नाम से अभिहित करना नहीं चाहते। यही है उनके परमतत्व की व्याख्या जिसके अनुसार वह निर्गुण और सगुण—दोनों से परे है। वह न अजर-अमर है, न अलख-निरंजन है, न ब्रह्मांड और पिंड में है। वह है और घट-घट व्यापी होते हुए भी आदि-अन्त हीन है। वह कर्ता भी है, कृति भी। अपने कृति में वह स्वयं ओतप्रोत है। कबीर कहते हैं :—

बाजीगर डंक इजाई। सब खलक तमासे आई॥
बाजीगर स्वांगु सकेला। अपने रंग रवै अकेला॥

× × ×

जिनि नटवर नटसारी साजी। जो खेलै सो दीसै बाजी॥

ऐसा है कबीर का परमतत्व जो अनिर्वचनीय है। शब्दों द्वारा उसका

वर्णन नहीं हो सकता। वह अगम और अज्ञेय है। अपने को वह स्वयं आप ही जानता है और दूसरा उसे केवल 'है' ही कह सकता है। अपनी-अपनी पहुँच और अनुभूति के अनुसार ही साधक को उसका किंचित परिचय प्राप्त होता है। वह परम सत्य है और उसी का प्रसार सारे विश्व में है।

कबीर के दार्शनिक सिद्धांतों में दूसरा प्रमुख तत्व है जीव-तत्व। उन्होंने परमात्मा और जीवात्मा में कोई भेद नहीं माना है। 'खालिकु खलक खलक महिं खालिकु परि रह्यो सब ठांई'—कहकर वह हरि में पिंड और पिंड में ही हरि के अस्तित्व का समर्थन करते हैं। वह यह भी कहते हैं कि इस शरीर के भीतर समझी जानेवाली आत्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, न तपस्वी है, और न शेख ही है। 'कहै कबीर इहि राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु'—से यह स्पष्ट है कि उन्होंने उसे राम का, उस परमतत्व का अंश मात्र माना है जिस का नाश उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कागज के ऊपर से स्याही का चिह्न नहीं मिटता। उनका यह अंशाशि-भाव उनकी उन उक्तियों से भी स्पष्ट होता है जिनमें उन्होंने दोनों के संबंध को विन्दु और समुद्र के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में जीव-तत्व मूलतः और तत्वतः वही है जो परम तत्व है। जीव-तत्व और परम-तत्व में विभिन्नता का अनुभव करनेवालों को उन्होंने फटकारा है और कहा है :—

दोइ कहै तिनही को दोजख, जिन नहिन पहिचाना।

× × ×

कहै कबीर तुरक दुई साधै; तिनकी मति है मोटी।

कबीर ने शरीरस्थ आत्मा के दो रूप माने हैं जिन्हें हम ज्ञाता या ज्ञेय अथवा द्रष्टा या दृष्य के नाम से अभिहित कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा प्राप्ता भी है और प्राप्तव्य भी। 'आप छिपाने आपै आप'—से उनका यही तात्पर्य है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने अपनी रचना 'कबीर की विचार-धारा' में कबीर की 'सुरति' को प्राप्ता आत्मा और निरतिको प्रातव्य आत्मा का शुद्ध मुक्त-स्वरूप माना है। जब सुरति अर्थात् प्राप्ता आत्मा का निरति अर्थात् प्राप्तव्य आत्मा

से तादात्म्यत् हो जाता है तब कल्याण और आनन्द की प्राप्ति होती है। कबीर ने कहा भी है :—

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भू दुवार।

यहाँ वह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक अद्वैत तत्व भिन्न रूपों में कैसे और क्यों दिखाई पड़ता है? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए उन्होंने प्रतिविम्ब-वाद की शरण ली है। 'ज्यों जल में प्रतिबिंब त्यों सकल रामहिं जानी जी,' में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार जल में बिम्ब के विवध प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार इस संसार में जीवात्मा के विविध रूप मिलते हैं। संक्षेप में यही हैं कबीर के जीवात्मा-संबंधी विचार जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह अद्वैतवादी थे।

अब कबीर के माया-तत्व को परखिए। हम अभी बता चुके हैं कि कबीर की दृष्टि में जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु साधारण लोगों की दृष्टि में ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसका मूल कारण है माया। संसार में जन्म लेना माया में फँसना है और माया ही उस परमतत्व से विलगाव का कारण है। वह कहते हैं:—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तथ्य कथ्यो ग्यानी॥

इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर डालनेवाली है केवल माया। इस माया को कबीर ने 'एक परम सुन्दरी' तथा 'विश्व मोहिनी' के रूप में चित्रित किया है।' इसका स्वभाव है ठगना और फँसाना। 'माया महा ठगिन हम जानी' साथ ही 'कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खाँड़' आदि से उनकी इसी भावना का आभास मिलता है। माया को उन्होंने नारी के रूप में ही नहीं; बेलि के रूप में भी चित्रित किया है और उसे अनिर्वचनीय माना है। वह कहते हैं :—

जो काँटों तो डह डही, सींची तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय॥

ऐसी माया को कबीर ने त्रिगुणात्मक माना है और कहा है कि उस परमतत्व ने उसे उत्पन्न करके उसमें अपने आप को छिपा लिया है। निम्न पदों से हमें उनकी इसी प्रकार की विचार-धारा का आभास मिलता है :—

रजगुण, तमगुण, सतगुण कहिये यह सब तेरी माया ॥

× × ×

सत, रज, तम, थैं कीन्हीं माया ।
आपन माँझ आप छिपाया ॥

कबीर का यह भी विश्वास है कि माया अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण परिवर्तनशील है। इसलिए संसार की सभी वस्तुएँ माया-रूपिणी एवं परिवर्तनशीला हैं। 'कबीर माया डोलनी, पवन बहै हिवधार' में कबीर ने माया की गतिशीलता की पवन के प्रवाह से उपमा दी है। 'उपजै विनसै जेती सर्व माया'—से भी उसकी परिवर्तनशीलता का ही आभास मिलता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका जन्म और नाश दोनों होता है। उसी के कारण जीव आवागमन के इन्द्रजाल में फँसता है और यही दुःख का कारण है। अतः माया स्वभावतः दुःख-रूपिणी है। वह व्यभिचारिणी और बन्धन-रूपा भी है। 'मोर-तोर' की वही जननी है। काम, क्रोध, मोह, मद एवं मत्सर उसके पुत्र हैं जो लोगों को सदा विविध प्रकार का नाच नचाया करते हैं। वह इतनी आकर्षणमयी है कि उसे छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं छूटती। संसार में आदर, मान, जप-तप, व्रत, उपवास, तीर्थ-यात्रा, रोज़ा, नमाज़ जो कुछ है वह सब माया-प्रसूत ही है। वह जल, थल और आकाश सर्वत्र परिव्याप्त है। संसार का कोना-कोना उससे अभिभूत है। उसका निवास-स्थान है मन। 'इक डायन मेरे मन बसै, नित उठ मेरे जिय को डसै' कहकर कबीर ने माया के प्रभाव को स्पष्ट कर दिया है। 'माया मुई, न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर' द्वारा उन्होंने यह भी कह दिया है कि मन की भाँति ही माया भी अविनश्वर है और मन के सारे विकार उसी के संगी-साथी हैं। ऐसी है वह माया और ऐसा है उसका आकर्षक रूप। उसका आकर्षक रूप ही भगवान की भक्ति में बाधक है। वह भक्ति नहीं करने देती। कबीर कहते हैं :—